जिनदत्त चरित्र

(श्री १०८ आचार्य गुणभद्रस्वामी विरचित)

(ग्रन्थ ७)

अनुवादिका ।

श्री १०५ गणिनी आर्यिका रत्न विदूषी सम्यग्ज्ञान शिरोमणी सिद्धान्त विशारद, धर्म प्रभाविका, श्री विजयामती माताजी

(श्री १०८ आचार्य महावीर कीर्तिजी परम्पराय)

प्रबन्ध सम्पादक :

लाल जैन "टोंकवाला"

सम्पादक :

महेन्द्रकुमार जैन "बड़जात्या"

प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन विजया ग्रन्थ प्रकाशन समिति

कार्यालय :

जैन भगवती भवन, ११४–शिल्प कॉलोनी,
झोटवाड़ा, जयपुर–३०२०१२

मंतव्य

परम ऋषि आचार्य वर्य श्री गुणभद्र स्वामी आत्म-विज्ञान के श्रेष्ठ ज्ञाता प्रतीत होते हैं। आत्म परिशोधना के साथ परम दयालु, परोपकार निरत हैं। आपकी कृतियों से स्व-पर कल्याण की भावना स्पष्ट झलकती है। समाज कल्याण का स्रोत प्रवाहित है। यतिधर्म की परिपूर्णता व पुष्टता के लिए स्वस्थ एवं पुष्ट श्रावक धर्म भी अपेक्षनीय है। आपने आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टिकोण से सामाजिक जीवन की सफल व्याख्या की है। प्रस्तुत कृति "जिनदत्त चरित्र" भी आपकी अपूर्व देन है। एक सामान्य पुरुष अनेक विपत्तियों से आक्रान्त होकर भी किस प्रकार सद्धर्म का आलम्बन लेकर उन आपदाओं पर विजयी होता है इसके अध्येता इसे ज्ञात कर धैर्य और विवेक प्राप्त कर सकता है। तूफानी सागर में उथल-पुथल, डूबती-उतराती नौका के समान जीवन तरणी को पार करने की कला है इसमें! एक विवेकी सुबुद्ध जिनभक्त परायण व्यक्ति अपने सहयोग से अनेकों के मिथ्याभिप्रायों का मूलोच्छेदन कर उन्हें सन्मार्ग प्रदर्शन करता है। अनादि मिथ्यात्व रूपी सर्प से डसा प्राणी जहर से आक्रान्त हो भटकता आ रहा है। नाना आधि-व्याधि-रोग-संतापों से व्यथित हो असंख्य क्लेशों का शिकार बना है।

भोगों की चकाचौंध से चुंधियाया मानव किस प्रकार कर्तव्य च्युत हो दुःख का पात्र होता है यह आज प्रत्यक्ष दिख रहा है। भोग रोग हैं, इनका सेवक पीड़ित क्यों नहीं होगा ? अवश्य अशान्त रहेगा। शरीर के प्रसाधक साधनों में भला आत्म की घुटन क्यों न होगी ? आज वैज्ञानिक टूटे-फूटे चमत्कारों से चकित हो यह कह देते हैं "विज्ञान ने जल, थल और आकाश को बांध लिया है, उसे सर्वत्र गमनागमन की सफलता प्राप्त हो गयी है।" परन्तु इस विषय को हम आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें तो यह कोरी पाशविक शक्ति का थोथा प्रदर्शन है जो त्याग और ध्यान की पवन के एक हलके से झोंके से उड़ जायेगा।

आत्मबल बाह्याडम्बर की अपेक्षा नहीं करता। आत्म-साधना रत योगी एक निमिषमात्र में न केवल इन जल-थलादि स्थूल वस्तुओं की थाह पा ले अपितु मनोलोक (परकीय मन के सूक्ष्म विचार लोक) का भी क्षणभर में परिशीलन करने में समर्थ होजाता है। यही नहीं तीनों लोक और तीनों कालों के अशेष द्रव्यों को गुण-पर्याय सहित एक साथ एक क्षण में ज्ञात करने में भी समर्थ हो जाता है। अस्तु, मनोबल के साथ आत्मिक शक्ति का विकास यथार्थ विकास है।

जीवन के सर्वाङ्गीण क्रमिक विकास के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ निर्धारित हैं। ये चारों एक-दूसरे के सहायक हैं। इनका पाना और यथोचित प्रयोग करना मानव जीवन की कला है। "इस कला का ज्ञायक किस प्रकार बनता है" यह पाठ इस चरित्र मे सम्यक् प्रकार अंकित किया गया है। आचार्य श्री स्वयं लिखते हैं, "धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ मुक्ताफल—मोतियों के सदृश हैं इनको बुद्धि रूपी सूत्र से गूँथ कर जिनदत्त कथा रूपी हार निर्मित करने को मेरा मन चाहता है।" अर्थात् चारों पुरुषार्थों की सिद्धि एक भव्यात्मा किस प्रकार कर सकता है इस युक्ति का दर्शक यह ग्रन्थ है।

जीवन कंकरीली, कटीली, टेढी-मेढी, सघन, तमाच्छन्न संकीर्ण पगडण्डी है। इसे पार करना सरल नहीं। तो भी इस दुर्गम, दुरूह पथ को एक सम्यक्त्वी, भव्यप्राणी विवेक ज्योति से, सदाचार के सहारे सुगम, सरल बना लेता है। काम क्रोधादि कटीली झाड़ियों को सत्य अहिंसा रूपी शस्त्रों के द्वारा काट समता रस से सिंचन करता हुआ

प्रशस्त मार्ग बनाकर निर्भय बढ़ता चला जाता है। पीछे देखता ही नहीं। क्यों देखे ? आगे प्रकाश है, मार्ग स्वच्छ है, कहीं बाधा नहीं—सर्वत्र छाया है फिर पीछे घूमने की आवश्यकता ही क्या है ? आत्म-विश्वास, एटम और अणुबम को अपेक्षा अनन्त गुणी शक्ति रखता है। मनोबल के समक्ष संसार के असंख्य सुभट धराशायी हो जाते हैं।

वर्तमान में मानव, धर्म विमुख होता चला जा रहा है। त्याग, संयम एवं दान की बात सुहाती ही नहीं। आत्म विकास के साधनों—देव, शास्त्र, गुरु एवं इनके उपासक तथा आयतनों से हम दूर खिसकते जा रहे हैं। यही नहीं इनके विपरीत कार्यों—मिथ्यात्व, रात्रि भोजन कन्दमूलादि अभक्ष्य भक्षण, बिना छना जल पान, नशीली वस्तुओं—तमाखू, पानपराग आदि का सेवन, सौन्दर्य वर्द्धन के नाम से हिंसात्मक—पाउडर, लिपिस्टिक आदि का प्रयोग करते हैं। फलतः रोग, भय, शोक, अशान्ति, द्वेषादि की वृद्धि होती जा रही है। इस तथ्य का परिज्ञान इस चरित्र के पाठकों को अवश्य प्राप्त होगा। मिथ्यात्व की दल-दल से निकाल कर प्रशस्त स्वच्छ सद्धर्म मार्ग पर आरूढ़ करने के लिए यह टॉर्च के समान है।

प्रथमानुयोग चारों अनुयोगों का सार रूप है। यह अनुयोग अन्य अनुयोगों के कपाट उद्घाटन की कुञ्जी है। चाबी रहने पर कितना ही मजबूत ताला क्यों न हो आसानी से शीघ्र खुल जाता है। अन्दर प्रवेश हो जाता है तथा वहाँ की गति-विधि वस्तुओं का भी सम्यक् ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार प्रथमानुयोग का अध्येता निर्विघ्न, सफलतापूर्वक अन्य अनुयोगों के हार्द का ज्ञान-गहन अध्ययन कर आत्म तत्त्व की उपलब्धि करने में समर्थ हो जाता है। पुण्य, पाप क्या है ? उनका बंध किस प्रकार होता है ? आत्मा अनन्त शक्ति युक्त होकर भी क्यों परतन्त्र हो जाता है ? कर्म क्या है, किस प्रकार आते हैं, ठहरते हैं, फल देते हैं ? जड़ होकर भी इनका नाटक किस प्रकार होता है ? इत्यादि प्रश्नों का समाधान इस अनुयोग के अध्ययन से अनायास हो जाता है। प्रस्तुत चरित्र भी प्रथमानुयोग के अन्तर्गत है। पाठक स्वयं इसे पढ़कर उपर्युक्त प्रश्नों का हल—समाधान प्राप्त कर सकेंगे ऐसा मेरा विश्वास है।

नारी जीवन जितना सरल है उतना ही कठिन भी है। शील एवं सदाचार नारी का आभूषण है। पति भक्ति उसका कर्त्तव्य है। सद्गृहणी,

पतिव्रत परिरक्षण दक्ष वीराङ्गना किस प्रकार धर्म की छाया में क्लेश और कष्टों के स्वेद बिन्दुओं को सुखा कर शान्ति का अनुभव करती है यह बतलाता है यह चरित्र। इस कथा की नायिका अनेकों भीषण विपदाओं को अञ्चल में छुपा कर धर्म-ध्यान से नाता जोड़ती है। सांसारिक प्रपञ्चों से दूर रह संयमियों की शरण में जा पहुँचती है। कांटों में मुस्कुराते पाटल सुमन की भाँति अपने जीवन को समुज्ज्वल बनाती है। वस्तुत: यह कथा मात्र मनोरंजक ही नहीं है अपितु जीवन साधना की कसौटी है। प्रेम, वात्सल्य और एकता की त्रिवेणी है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, रूप मुक्ति मार्ग की नसैनी है। कायरों के हृदय में भी सच्चे वीरत्व को जाग्रत करने में सक्षम है। एक मात्र पातिव्रत ही नारी की शोभा है।

वर्तमान सुधारकों को यह चुनौती देता है। महिला को (कन्या को) ही विवाह का अधिकार है। एक ही उसका पति हो सकता है यह जैन सामाजिक संस्कृति का आदर्श है और नारी जीवन-आध्यात्मिक जीवन विकास का प्राकाट्य, अटल नियम है। विधवा विवाह और विजातीय विवाह धर्म, समाज और व्यवहार विरुद्ध है इस विषय का इसमें सुस्पष्ट उपाख्यान, सबल प्रमाण उपलब्ध है। इसके प्रचार, अध्ययन, मनन, चिन्तन से अवश्य हमारा समाज एक ठोस, उच्चतम नैतिक स्तर प्राप्त कर सकेगा यह पूर्ण विश्वास है।

वैभव की दल-दल मानवता का उत्थान नहीं कर सकती। कोरी सम्पत्ति, अहंकार, स्वच्छंदता, मद एवं उन्मत्तता की हेतु है। धार्मिक संस्कारों से संस्कृत वही विभूति त्याग, दान, संयम से युक्त हो उभय लोक में यश, सुख, शान्ति की कारण हो जाती है। जिनदत्त का जीवन एक समुज्ज्वल ढांचे में ढला है। जहाँ अहं की दीवार आ ही नहीं पाती। कषायों की उद्रेकता का नामोनिशान नहीं है। सरल, सादा, स्वाभाविक, आडम्बर विहीन जीवन किस प्रकार ज्ञान-विज्ञान, बुद्धि, कला-कौशल का प्रदर्शन करता हुआ विकासोन्मुख होता है यह पाठक स्वयं अनुभव करेंगे।

यद्यपि विषय-कषायों के झटके आते हैं। जीवनधारा के प्रवाह को एकाएक पलट देते हैं। यदा तदा विपरीत ही मोड़ ला देते हैं। तो भी शुद्ध धार्मिक संस्कारों से आप्यायित मानव जीवन के उन प्रारम्भिक संस्कारों का मूलोच्छेदन नहीं कर सकते। कच्चे घड़े पर बनाये चित्र

उसके अग्नि पक्व होने पर भी उसी रूप में बने रहते हैं। ऊपरी धूल-मिट्टी से फीके पड़ जायें भले ही परन्तु तनिक से प्रयास से ज्यों के त्यों रहे मिलते हैं। वर्तमान में हमारे माता-पिता अपने बच्चों को सुसंस्कारों से दूर रखते हैं। यही नहीं स्वयं कुसंस्कारों में भी उन्हें डालते हैं, यथा रात्रि भोजन कराना, क्रिश्चियनों के हाथों में पालन-पोषण कराना, वी. डी. ओ., टी. वी. दिखाना, रेडियो सुनाना, सिनेमा ले जाना, अभक्ष्य भक्षण कराना इत्यादि। भोग बुरे नहीं यदि उन्हें योग्य सीमा और रीति से सेवन किया जाय। आशक्ति और अमर्याद भोगे भोग अवश्य दुर्गति के कारण होते हैं। जिस प्रकार रोगी रोग की पीड़ा सहन न होने से विरक्त भाव से अत्यन्त कटुक औषधि का सेवन करता है उसी प्रकार विवेकी पुरुष को पञ्चेन्द्रिय विषयों का न्यायोचित भोग करना चाहिए। अर्थात् भोग के पीछे त्याग भाव रहना अनिवार्य है।

अन्त में मैं इतना ही कहूँगी कि यह ग्रन्थ छोटा होकर भी जीवन को महान बनाने में पूर्ण सक्षम है। इसमें श्रावक धर्म और यति धर्म का सुन्दर समन्वय हुआ है। हम श्रावक बनकर निर्ग्रन्थ मुनि मार्ग पर चलें और आत्मोत्थान करें।

यह ग्रन्थ हमें हिन्दी में देखने को प्राप्त नहीं हुआ। यहाँ पोन्नूरमलै में "ग्रन्थलिपि" पढ़ने का अभ्यास कर प्रथम इसी चरित्र को पढ़ा। रोचक और शिक्षास्पद होने से मैंने इसे देवनागरी लिपि में उल्था किया। यह संस्कृत भाषा में श्लोकबद्ध है। प्रथम श्लोकों को नागरी लिपि में रूपान्तर कर पुनः हिन्दी भाषान्तर कर आबालवृद्ध की सुलभता के लिए आपके सामने उपस्थित करने का प्रयास किया है। इसमें यहाँ के श्री समन्तभद्र शास्त्री से सहायता प्राप्त हुयी। उन्हें हमारा आशीर्वाद है। मूल संस्कृत श्लोक भी साथ में रहेंगे। अतः विद्वज्जन तदनुसार शुद्ध कर अध्ययन करें। भाषान्तर होने से श्लोक एवं हिन्दी भावान्तर में त्रुटि रहना स्वाभाविक है अस्तु, साधुजन सुधार कर पढ़ें और अन्य

को भी मार्ग दर्शन करें यह मेरी विनम्र प्रार्थना है। अन्य भी विद्वानजन सावधानी से संशोधन करें। यद्यपि हमने पर्याप्त परिश्रम और पूर्ण जागरूकता से यह कार्य किया है तो भी कहीं कुछ कमी रही हो तो उसे सुधार कर लें। इसमें नवरसों का समाहार कर अन्त में शान्त रस की विजय दिखायी है।

इस श्रेष्ठ ग्रन्थ के प्रकाशन का आर्थिक भार धर्म प्रेमी श्री जयचन्दजी, राजकुमारजी एवं श्री महेन्द्र कुमारजी मद्रास वालों ने स्वीकार किया है। प्रकाशन "श्री दि० जैन विजयाग्रन्थ प्रकाशन समिति झोटवाड़ा जयपुर" से हो रहा है। इस समिति के सम्पादक श्री महेन्द्रकुमार जी बड़जात्या, प्रबन्ध सम्पादक श्री नाथूलाल जी जैन, राजेन्द्रकुमार जी, सुभाषचन्द्र जी आदि सभी कार्यकर्ताओं ने अपना अमूल्य समय दिया है। इन सभी महानुभावों को हमारा पूर्ण आशीर्वाद है। इनकी धार्मिक भावना, जिनभक्ति, श्रुत और गुरुभक्ति निरन्तर वृद्धिगत हो। ज्ञान का क्षयोपशम और चारित्र मोह का उपशम प्राप्त हो यही हमारा पुनः पुनः आशीर्वाद है। इत्यलम् ॥

ग० आ० १०५ विजयामती

परिचय

साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः ।
कालेन फलते तीर्थं सद्यः साधुसमागमः ।।

साधुओं का दर्शन पुण्यभूत है क्योंकि उनके दर्शन से हमारे पापों का क्षय होता है, परिणामों में निर्मलता आती है। साधु स्वयं तीर्थ-स्वरूप हैं क्योंकि वे हमको संसार समुद्र से पार होने का मार्ग बताते हैं। वे संसार के भयंकर दुःखों से उन्मुक्त अनाकुल शाश्वतिक सुख को देने वाले हैं इसलिये भी तीर्थ-स्वरूप हैं। तीर्थ क्षेत्रों की वन्दना तो यथाकाल फल देती है पर साधु संगति हमारे जीवन को तत्काल प्रभावित करती है कहा है —

एक घड़ी आधी घड़ी आधी में भी आध ।
मिले साधु की संगति, कटे कोटि अपराध ।।

यदि हम चाहते हैं कि हमारा जीवन सुखमय हो तो साधुओं की संगति अवश्य करें और उनकी पवित्र जीवन गाथाओं को गहराई से पढ़ें, अध्ययन करें और तत् रूप बनने का प्रयत्न करें।

अभी मैं आपके सामने नारी जगत की एक महान विभूति, रत्नत्रय की प्रतिमूर्ति स्वरूप परम पूज्या आर्यिका रत्न श्री १०५ गणिनी श्री विजयामती माताजी का संक्षिप्त जीवन परिचय देना आवश्यक समझती हूँ क्योंकि ग्रन्थ को पढ़ने के समय उसका लेखक कौन ? यह प्रश्न सहज ही सबके मानस पटल को छूता है। श्री अकलंक देव स्वामी जैसे उद्भट विद्वान ने भी बार-बार यह कहा है कि वक्ता की प्रमाणता से वचनों में प्रमाणता आती है इस तथ्य को ध्यान में रखकर, मैं गुरुभक्ति से प्रेरित हुई, टूटे-फूटे शब्दों में, माताजी के जीवन की एक हल्की रूप रेखा यद्यपि

प्रस्तुत कर रही हूँ पर आपके गुणोल्लेख के प्रति मेरा प्रयत्न वैसा ही है जैसे कोई बालक हाथों को फैला-फैला कर समुद्र के विस्तार को कहना चाहे। आपके गुण समुद्र के समान गम्भीर हैं, मुझ अबोध बालिका के लिये आपका गुणोल्लेख सर्वथा अशक्य है तो आपकी स्तुति से हमारे कर्मों का क्षय होगा और पाठकों का मार्ग-दर्शन होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। अत: आत्म शोधन के लिये मैं आपके पवित्र जीवन को लिखना चाहती हूँ।

१०५ परम पूज्या आर्यिका रत्न गणिनी विजयामती माताजी का जीवन गंगा की जल धारा के समान पवित्र और निर्मल है। आप बालकों के समान सरल, चन्द्रमा के समान शीतल, अमृत के समान मधुर और सुदृढ़ नौका के समान तारक हैं।

कहावत है 'होनहार वीरवान के होत चीकने पात' सो गर्भ से ही आपके त्याग और वैराग्य की वृत्ति दीखने लगी।

जब आप गर्भ में ९ महीने की थीं उस समय आपकी माताजी को श्री सम्मेद शिखरजी की वन्दना का दोहला हुआ और उन्होंने उस अवस्था में भी पैदल सम्मेद शिखरजी की वन्दना कर ली। इधर आपके पिताजी, आचार्य श्री १०८ शान्तिसागर जी महाराज के संघ के साथ पैदल विहार करते हुए सम्मेद शिखरजी पहुँचे। गर्भ से ही आपको गुरुओं का आशीर्वाद मिलता रहा।

आपके जीवन रूपी लता का सिंचन, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूपी जल से हुआ, उसी का प्रतिफल है कि आज आप हमारे सामने एक महान तपस्वी के रूप में उपस्थित हैं।

आपका जन्म १ मई १९२८ वैशाख शुक्ला द्वादशी विक्रम सम्वत् १९८५ में उत्तरा फाल्गुनी चतुर्थ चरण नक्षत्र में राजस्थान-कामा नगरी में हुआ था। आपके पिता का नाम सन्तोषीलाल और माता का नाम चिरोंजी देवी है।

इस पृथ्वी पर आपका अवतरण प्रात:कालीन उदित हुए सूर्य के समान, भव्य जीवों को प्रफुल्लित करने वाला है। आपका पालन-पोषण विशेष लाड़ प्यार से हुआ था। सभी परिजन पुरजनों के मन को हरण करने वाली आप अत्यन्त रूपवान और गुणवान थीं। माता-पिता ने

आपका विवाह ८ या १० वर्ष में हो कर दिया था तथा १५ दिनों में ही आप विधवा हो गईं। दैव का तीव्र प्रकोप देखकर सब लोग शोकाकुल हो उठे। पर आपने अपने को वैराग्य की तरफ ढालकर अपूर्व धैर्य और साहस का परिचय दिया। विवाह के बाद आप ससुराल नहीं गई थीं, मात्र फेरे पड़े, उतना ही समझें, आपको बाल ब्रह्मचारिणी कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। नारी का आभूषण शील और संयम है, ऐसा विचार कर आप अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण कर आरा में श्री ब्र० चन्दाबाईजी के आश्रम में पढ़ने लगीं। वहाँ पांचवीं कक्षा में आपका नामांकन हुआ था आश्रम में १९ वर्षों तक रहकर आपने अध्ययन किया। अध्ययन काल में अपने से छोटी कक्षा की छात्राओं को आप पढ़ाती भी थीं। आपकी बुद्धि बहुत प्रखर थी। आप अपनी कक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त करती थीं। आपने बी. ए., बी. एड. कर साहित्य रत्न, विशारद और न्याय तीर्थ की परीक्षायें भी दीं। इसी समय आचार्य श्री १०८ महावीर कीर्तिजी महाराज का संघ आरा नगरी में पधारा, अब आपके जीवन में एक नया मोड़ आया। मैं भी आर्यिका बनूं, तप करूँ ऐसा भाव बनने लगा। आप गुरु चरणों में शूद्र जल का त्याग कर साधुओं को आहार देने लगी। आपने आचार्य श्री से आर्यिका दीक्षा के लिये भाव प्रगट किया पर महाराज ने कहा कि तुम्हारी दीक्षा मुझसे नहीं होगी पर तुम मेरे पास बाद में अवश्य आओगी। वैसा ही हुआ।

सन् १९६२ में चैत्र बुदी तीज—वि० सं० २०१९ को आगरा में, आचार्य श्री १०८ विमलसागर जी महाराज से आपने आर्यिका दीक्षा ली उसके बाद सन् १९६४ में सिद्ध क्षेत्र बड़वानी जी में आचार्य श्री १०८ महावीर कीर्तिजी महाराज और आचार्य श्री १०८ विमलसागरजी महाराज संघ सहित विहार करते हुए पहुँचे। दोनों संघों का चातुर्मास वहीं हुआ। अब आप गुरु की अनुज्ञा लेकर आचार्य श्री १०८ महावीर कीर्तिजी के पास पढ़ने लगीं तथा चातुर्मास के बाद आचार्य श्री १०८ विमलसागर जी महाराज से अनुमति लेकर आप आचार्य श्री १०८ महावीर कीर्तिजी महाराज के पास ही रहने लगीं।

आपकी ज्ञान, गरिमा, निर्मल चारित्र और वात्सल्य भाव को देखकर श्री १०८ समाधि सम्राट् आचार्य श्री महावीर कीर्तिजी महाराज ने आपको अपनी समाधि के समय—१९७२ में गणिनी पद से विभूषित किया था।

संघस्थ सभी साधु साध्वियों को पढ़ाने-लिखाने का काम विशेष रूप से आप ही करती थीं। अभी भी अध्ययन अध्यापन का कार्य आपका उसी क्रम से चल रहा है। आप ७ वर्षों तक तमिलनाडू में रहीं, वहाँ तमिल भाषा सीखकर आपने तमिल में ही उपदेश करना प्रारम्भ कर दिया था। ग्रन्थ लिपि सीखकर आपने प्राचीन ताड़ पत्रों के ग्रन्थ भी पढ़े। जो आपकी तत्वरुचि और तीक्ष्ण बुद्धि का परिचायक है। आपके वात्सल्य भाव आदि से प्रभावित होकर इन्द्रध्वज विधान के अवसर पर तमिलनाडू जैन समाज ने आपको २६–१–८५ को 'जिन धर्म प्रभाविका' पद दिया था।

चारित्र और ज्ञान दोनों का समन्वय आपके अन्दर अपने आप में बेजोड़ है। आपने अपने को तप की अग्नि में तपाकर इतना दिव्य कर लिया है कि आपका स्मरण भी अन्तःस्थल में व्याप्त विषय वासनाओं की दुर्गन्ध का उन्मूलन कर हमें आत्मानुभव, आत्मचिन्तन और आत्म-मन्थन के लिये उत्कण्ठित कर देता है।

आपकी लेखनी से निकले जो ग्रन्थ, साहित्य व कथाएँ हैं वे जन-जन के हृदय में व्याप्त मिथ्यात्व और अज्ञान का निवारण करने में पूर्ण समर्थ है साथ ही युक्ति युक्त और आगमानुकूल होने से प्रामाणिक भी है। उनमें कुछ कृतियों का नाम जो मुझे मालूम है वह इस प्रकार है—(१) आत्मान्वेषण, (२) आत्मानुभव, (३) आत्म-चिन्तन (४) तजो मान करो ध्यान, (५) महीपाल चरित्र, (६) पुनर्मिलन, (७) तामिल तीर्थ दर्पण (८) कुन्दकुन्द शतक, (९) प्रथमानुयोग दीपिका, (१०) तत्व दर्शन, (११) अमृत वाणी (१२) श्री शीतलनाथ पूजा विधान का पद्यानुवाद (१३) तत्व दर्शन।

(१४) यह जिनदत्त चरित्र है। तमिलनाडू में ग्रन्थलिपि में लिखे ताड़ पत्रों में आपने जिनदत्त चरित्र पढ़ा था उसका अनुवाद कर यह लिखा है।

आपकी प्रेरणा से तमिलनाडू में जहाँ जिन मन्दिर नहीं थे वहाँ नवीन जिनालय की स्थापना तथा प्राचीन जिन मन्दिरों का जीर्णोद्धार विशेष रूप से हुआ है, पांडीचेरी में पंच-कल्याणक प्रतिष्ठा, सेलम व मद्रास में वेदी प्रतिष्ठा विशेष प्रभावना पूर्वक हुई। तमिलनाडू की सोई हुई जैन समाज को जागृत कर उनको धार्मिक कार्यों में सक्रिय कर आपने उन्हें नव जीवन प्रदान किया है।

आपने अनेकों को व्रती बनाया, त्याग, व्रत नियम देकर उनके जीवन को पवित्र बनाया है। श्री १०५ कुलभूषणमती जी को आपने कुन्थलगिरि जी में क्षुल्लिका दीक्षा दी थी। संघस्थ क्षु० १०५ जयप्रभा और क्षु० १०५ विजयप्रभा जी आपसे ही दीक्षित हैं। आपके सान्निध्य में ये लगभग १० वर्षों से अध्ययन कर रही हैं।

आपकी शैली सरल सुबोध है और वचन युक्ति संगत हैं, जिससे बड़े-बड़े विद्वान भी आपके सामने झुक जाते हैं सभी प्रकार की शंकाओं का समाधान विद्वान लोग आपके पास करते हैं। युग-युग तक आपकी सुन्दर देशना हमारा मार्ग-दर्शन करती रहे, ऐसी हमारी भगवान से प्रार्थना है।

अन्त में मैं गुरु चरणों में पुनः पुनः अपनी विनयाञ्जलि प्रस्तुत करती हूँ—

"गुरोः भक्ति गुरोर्भक्तिः गुरोर्भक्तिः दिने दिने।
सदामेऽस्तु सदामेऽस्तु सदामेऽस्तु भवे भवे॥

गुरु चरणों में श्रद्धावनत
क्षु० १०५ जयप्रभा

सम्पादकीय

श्री चन्द्र प्रभु जिनेन्द्राय नमः

परम् पूज्य समाधि सम्राट चारित्र चक्रवर्ती १०८ आचार्य श्री आदिसागर जी महाराज, समाधि सम्राट बहुभाषी तीर्थ भक्त शिरोमणि १०८ आचार्य श्री महावीर कीर्तिजी महाराज, चारित्र चूड़ामणि अध्यात्म बालयोगी कठोर तपस्वी १०८ आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज, निमित्त ज्ञान शिरोमणि १०८ आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज वात्सल्य रत्नाकर बाल ब्रह्मचारी १०८ गणधराचार्य श्री कुन्थुसागर जी महाराज, धर्म प्रभाविका विदुषी रत्न, सम्यग्ज्ञान शिरोमणि १०८ गणिनी आर्यिका श्री विजयामति माताजी एवं लोक के समस्त तपस्वी साधुओं के पावन चरण कमलों में पुनः पुनः नमोस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु करता हुआ समिति द्वारा प्रकाशित इस सप्तम् ग्रन्थ "जिनदत्त चरित्र" के प्रकाशन के विषय में दो शब्द पाठकों से निवेदन करता हूँ।

इस शताब्दी के प्रथम चारित्र चक्रवर्ती १०८ आचार्य श्री आदिसागर जी महाराज "अंकलीकर" ने समाधि से पूर्व अपना आचार्य पद परम् पूज्य १०८ आचार्य श्री महावीर कीर्तिजी महाराज को प्रदान

किया था। परम् पूज्य १०८ आचार्य श्री महावीर कीर्तिजी महाराज बड़े ही विद्वान, मृदुभाषी, बहुभाषी १८ भाषाओं के ज्ञाता थे उन्हीं की संघस्थ परम् पूज्य १०५ आर्यिका विजयामती माताजी ने उनसे शिक्षा ग्रहण की तथा उन्हीं की प्रेरणा से ग्रन्थ लेखन का कार्य प्रारम्भ किया। परम् पूज्य १०८ आचार्य श्री महावीर कीर्तिजी महाराज ने समाधि से पूर्व अपना आचार्य पद पूज्य १०८ आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज को, गणधर पद पूज्य १०८ गणधराचार्य श्री कुन्थुसागर जी महाराज को तथा गणिनी पद परम् पूज्य १०५ ग० आ० श्री विजयामती माताजी को प्रदान किया। उक्त तीनों ही संघ अपने गुरुओं की परम्परानुसार कठोर तपश्चरण में संलग्न भारत के विभिन्न क्षेत्रों में धर्म की अपूर्व प्रभावना कर रहे हैं। पूज्य माताजी पिछले कई वर्षों से दक्षिण भारत में धर्म की प्रभावना करते हुए वहाँ उपलब्ध ताड़पत्रों पर हस्तलिखित शास्त्रों का अध्ययन कर रही हैं। बहुत से शास्त्र अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं और न ही उनका हिन्दी अनुवाद ही उपलब्ध है पूज्य माताजी उन शास्त्रों का हिन्दी अनुवाद कर दक्षिण भारत भाषी ग्रन्थों से उत्तरी भारत के जैन समाज को अपने शुभ संस्कार अपने चरित्र निर्माण एवं धार्मिक आस्था की ओर प्रेरित कर रही हैं।

जैसा साहित्य हम पढ़ते हैं वैसा ही चरित्र हमारा बनता है, वैसे ही संस्कार हमारे मन, मस्तिष्क पर छा जाते हैं। अपने चरित्र निर्माण के लिए यदि सत् साहित्य पढ़ें, किन्हीं महान् व्यक्तियों का जीवन चरित्र पढ़ें तो अवश्य ही हमारे जीवन पर उसका प्रभाव पड़ेगा। पूज्य माताजी ने "महीपाल चरित्र" हमारे समक्ष रखा सभी ओर से उसकी प्रशंसा मुक्त कंठ से हुई।

हमारी समिति से प्रकाशित यह सप्तम् ग्रन्थ "जिनदत्त चरित्र" महान् विद्वान परम् पूज्य १०८ आचार्य श्री गुणभद्र स्वामी द्वारा ताड़पत्र पर लिखा गया था, जिसका हिन्दी अनुवाद परम् पूज्य माताजी ने सुबोध शब्दों में एवं रोचक शैली में पाठकों के समक्ष रखा है। श्री जिनदत्त स्वामी के चरित्र को पढ़कर पाठकों में जहाँ गृहस्थ जीवन के कर्त्तव्यों का बोध होगा वहीं उनमें पितृ भक्ति, गुरु भक्ति एवं धर्म के प्रति आस्था बढ़ेगी ऐसी मुझे आशा है।

ग्रन्थ जन-जन के उपयोगार्थ प्रकाशन कराने में मद्रास जैन समाज

के दानवीरों ने आर्थिक सहयोग कर शास्त्रदान का अक्षय लाभ की प्राप्ति की है, समिति की ओर से उन महानुभावों का धन्यवाद करता हूँ।

ग्रन्थ की विषय सामग्री विशेषकर संस्कृत श्लोक मेरे अल्प ज्ञान से अत्यधिक ऊँची है, फिर भी मैंने गुरुओं के आशीर्वाद से यह बाल प्रयास किया है, अत: साधुगण, विद्वजन व पाठकगणों से निवेदन है कि वे त्रुटियों के लिए क्षमा करते हुए उन्हें शुद्ध कर अध्ययन करने का कष्ट करें तथा अपने अमूल्य सुझावों से ग्रन्थ अनुवादिका परम् पूज्य माताजी को अवगत करावें ताकि आगामी ग्रन्थों में और भी अधिक सुधार आ सके।

पुस्तक प्रकाशन में समिति के सभी कार्यकर्ताओं विशेषकर श्री नाथूलाल जी, श्री सुभाषचन्द बसल, श्री हनुमानसहाय शर्मा का आभारी हूँ जिन्होंने प्रकाशन कार्य को रुचि लेकर सम्पन्न कराया है।

ग्रन्थ में प्रकाशित सभी चित्र एवं मुख पृष्ठ कथा पर आधारित काल्पनिक हैं, यदि कोई विसंगति पाठकों के ध्यान में आये, उससे प्रकाशन समिति को अवगत करावें।

ग्रन्थ की छपाई के लिए कुशल प्रिन्टर्स, जयपुर के संचालकों तथा विशेषकर कम्पोजीटर श्री माधोबिहारीलाल गोस्वामी को धन्यवाद देता हूँ जिनके प्रयत्नों से पुस्तक की छपाई सुन्दर हुई है।

पुन: लोक के समस्त आचार्य, गुरुओं एवं पूज्य माताजी के चरणारविन्दों में त्रिबार नमोऽस्तु ३ कर आशीर्वाद की आकांक्षा लिये हुए।

गुरुभक्त
महेन्द्र कुमार जैन "बड़जात्या"
सम्पादक

ॐ नमः सिद्धेभ्यो

श्री सरस्वती देव्यै नमः परम गुरवे नमः अर्हद्भ्यो नमः ।
सशिष्य श्री १०८ आचार्य रत्न श्री महावीरकीर्तये नमः ।।

जिनदत्त चरित्रम्

(प्रथम—सर्ग)

महा मोह तमश्छन्न भुवनाम्भोज भानवः ।
सन्तु सिद्ध्यंगना संग सुखिनः संपदे जिनः ।। १ ।।

महा मोह रूपी सघन अन्धकार से परिव्याप्त संसार रूपी सरोज को विकसित करने वाले सूर्य-जिनेन्द्र-अरहन्त, परमेष्ठी, सिद्धि रूपी अंगना-वधू का संयोग पाने वाले स्व-पद में सुखी होवें ।। १ ।।

यदायत्ता जगद्वस्तु व्यवस्थेयं नमामिताम् ।
जिनेन्द्र वदनाम्भोज राज हंसी सरस्वतीम् ।। २ ।।

संसार में समस्त वस्तुओं का जैसा स्वरूप है उनका उसी प्रकार लक्षण जिन जिनेन्द्र-सर्वज्ञ भगवान के मुखार-विन्द से निरूपित किया गया है उस राजहंसी के समान सरस्वती-वाग्देवी को मैं (आ० गुणभद्र) नमस्कार करता हूँ ।। २ ।।

विशेषार्थ :—संसार में अनन्त पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में स्थित हैं उनका यथार्थ विवेचन अनन्त ज्ञानी ही कर सकता है । उस विवेचना का माध्यम वाणी-सरस्वती है । उसे यहाँ आचार्य श्री ने राजहंसी के समान कहा है क्योंकि राजहंसी कमलवन में क्रीड़ा करती है उसी प्रकार यह स्याद्वाद वाणी भी जिनेन्द्र प्रभु के वदनारविन्द में रमण करने वाली है, तथा राजहंसी के समान क्षीर-नीर न्यायवत् तत्त्वों के यथावत् स्वरूप का प्रतिपादन करने वाली है । अतः उस सरस्वती को नमस्कार करता हूँ ऐसा आचार्य श्री का अभिप्राय है ।

मिथ्याग्रहाहिनादष्ठं सद्धर्मामृत पानत: ।
आश्वासयन्ति विश्वं येतान् स्तुवे यतिनायकान् ॥ ३ ॥

अनादि मिथ्यत्व रूपी सर्प से डंसे संसारी प्राणी ग्रसित हैं। यतियों में श्रेष्ठ आचार्यादि अपने सद्धर्मामृत का पान करा कर उन्हें स्वास्थ्य प्रदान करते हैं अर्थात् मिथ्यात्वगरल से उत्पन्न भ्रम बुद्धि से रक्षा करते हैं, उन यतिपुंगवों की मैं (श्री गुणभद्र स्वामी) स्तुति करता हूँ ॥ ३ ॥

विशेषार्थ :—इस श्लोक में आचार्य श्री ने श्रेष्ठ जिनेन्द्र के लघु नन्दनों-मुनिराजों की स्तुति रूप से प्रशंसा की है। मोह रूपी सर्प के भयंकर विष का निवारण करने में दिगम्बर साधु ही समर्थ हैं। वे स्वयं शान्त मोह होकर संसार के भव्य प्राणियों को सद्धर्मामृत का पान करा कर उन्हें मोक्ष मार्ग पर आरूढ़ करते हैं।

मालिन्यो द्योतयो हेतू असत्सन्तो स्वभावत: ।
गुणानां न तयो निन्दा स्तुति नैव ततोऽस्म्यहम् ॥ ४ ॥

दुर्जन स्वभाव से गुणों का अपवाद करते हैं और सत्पुरुष उनके (गुणों का) प्रकाशन करते हैं। अत: मैं (कर्ता) उनकी निन्दा या प्रशंसा नहीं करता हूं ॥ ४ ॥

विशेषार्थ :—इस पद्य में आचार्य श्री ने माध्यस्थ भावना का सुन्दर चित्रण किया है, साथ ही साधु स्वभाव का अनुपम प्रदर्शन भी। दुर्जन और सज्जन अपने-अपने स्वभावानुसार गुण और गुणी की निन्दा व प्रशंसा करते ही हैं उनके विषय की चर्चा करना व्यर्थ है। अपने कार्य की सिद्धि में दत्तचित्त होना ही साधु का कर्त्तव्य है।

मनो मम चतुर्वर्ग मार्ग मुक्ता फलोज्ज्वलाम् ।
जिनदत्त कथाहार लतिकां कर्तुमीहते ॥ ५ ॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ अत्यन्त उज्ज्वल मुक्ताफल-मोतियों के समान हैं। इनको गूंथ कर जिनदत्त कथा रूपी हार निर्मित करने को मेरा मन चाहता है ॥ ५ ॥

विशेषार्थ :—ग्रन्थ कर्ता ने अपने कर्त्तव्य का निर्देश किया है। "चारों पुरुषार्थों की सिद्धि एक भव्यात्मा किस प्रकार कर सकता है।" इस युक्ति को जिनदत्त के चरित्र वर्णन द्वारा निरूपण करने की प्रतिज्ञा की है।

कथारम्भ

अथास्ति भरत क्षेत्रे जम्बू द्वीपस्य दक्षिणे।
श्रीमाननंगामिधो देशो देवावास इवापरः ॥ ६ ॥

जम्बूद्वीप के दक्षिण भाग में भरत क्षेत्र है। उस क्षेत्र में एक अनङ्ग नाम का देश है। यह अपनी सुषमा से अमरलोक के समान था।' अर्थात् ऐसा प्रतीत होता था मानों दूसरा स्वर्गलोक ही हो ॥ ६ ॥

क्रीडा मत्तानरा यत्र कोपयन्ति स्वकामिनोः।
उद्यानेषु विलासाढ्य वनपाल विलोकिनः ॥ ७ ॥

इस देश में अति रमणीय उद्यान हैं। यहां मनुष्य रति आदि कीडाओं में उन्मत्त हुए अपनी कामनियों के प्रति कोप प्रदर्शित करते हैं। वन पालक इन विलासियों को निरंतर विलोकते हैं। अर्थात् यहां के बगीचों में सतत् वन-विहार करने के लिए राजा महाराजादि आते रहते हैं ॥ ७ ॥

सविभ्रमाः सपद्माश्च सर्व सेव्य पयोधराः।
कुटिला यत्र राजन्ते नद्यः पण्यागना इव ॥ ८ ॥

पयोधर-मेघों को विभ्रम के साथ सेवन करते थे अर्थात् विलास पूर्वक आनन्द क्रीडा करते हुए इस देश के पुरुष अपनी प्रियाओं के साथ बादलों की घटाओं का आनन्द लेते हैं। दूसरे अर्थ में पीनस्तनी स्त्रियों के साथ रमण करते थे। यहां की नदियां टेडी-मेडी बहती हुयी वेश्याओं के समान सुन्दर प्रतीत होती हैं ॥ ८ ॥

यत्थानं पथिका कामं नाक्रमन्ति समुत्सुकाः।
अपि सद्गोपिका कान्त रुपासक्ताः पदे पदे ॥ ९ ॥

इस देश में पथिक जन इच्छानुसार नहीं चल सकते हैं—कारण कि यहां यत्र तत्र सर्वत्र सुमनोरम दृश्य हैं अतः पग-पग पर उस रूप राशि में आसक्त हो खडे रह जाते हैं। जहां-तहां सुन्दर गोपिकाएं विविध प्रकार हाव भाव, शृंगार एवं नृत्य गीत वादित्र का प्रदर्शन करती हैं उन्हीं में उलझ कर अपने कार्य को भूल जाते हैं ॥ ९ ॥

भान्ति यत्र भुवो ग्राम्या: सर्वत: खल संकुला: ।
समृद्धिभिस्तथाप्युच्चै: सज्जनानन्द हेतव: ।। १० ।।

इस अनंग देश के अनेकों ग्राम हैं। इनकी श्री भी अनोखी है। चारों ओर हरियाली, धान्य भरे खलियान हैं। इनकी समृद्धि सज्जनों के आनन्द की हेतु हैं। अभिप्राय यह है कि ग्रामीण जन गांवों में गोधनादि से समृद्धि प्राप्त कर सज्जनों के आनन्द के साधन हैं। सरलता से उच्च आशय धारण करते हैं ।। १० ।।

निगमानां न चान्योन्यं यस्मिन् सीमावगम्यते ।
निष्पन्नै: सर्वत: सर्व सस्यजातैनिरन्तरै: ।। ११ ।।

यहाँ के क्षेत्र एक-दूसरे के प्रति सन्निकट हैं। सभी हरे-भरे और फले-फूले हैं, किस की सीमा कहाँ से कहाँ तक है यह प्रतीत ही नहीं होता है। सर्वत्र सदा विविध धान्य निष्पन्न-उत्पन्न होते रहते हैं। किसी को किसी प्रकार का अभाव नहीं, फिर सीमा का प्रयोजन क्या ? ।। ११ ।।

सच्छाया: प्रोन्नता यत्र मार्गस्थाश्च विजातिभि: ।
सेव्यन्ते पादपा युक्त मेतन्नु कुजन्मनाम् ।। १२ ।।

यहाँ के मार्गों में सघन छायादार विशाल और उन्नत वृक्ष हैं। सभी पथिकों द्वारा उनका उपभोग किया जाता है। इससे प्रतीत होता है कि वृक्षों के पाप कर्म का यह फल है। क्योंकि उत्तम वस्तु सर्व सेव्य नहीं होती ।। १२ ।।

खन्याकर समुत्थानं दधाना बहुधा धनं ।
जाता वसुमती यत्र यथार्थेयं समंतत: ।। १३ ।।

यहाँ खानों की भी कमी नहीं है। हीरा, माणिक, पन्ना आदि की अनेकों खानें हैं इनसे प्रतीत होता है कि पृथ्वी का सार्थक नाम वसुन्धरा या वसुधा है। 'वसु' का अर्थ धन होता है। इसे जो धारण करे वह वसुधा है। इस देश में सोने-चांदी, हीरा आदि की खानों को देखकर सहज ही 'वसुधा' सार्थक नाम उपस्थित हो जाता है ।। १३ ।।

राजते जनता यत्र जिनधर्मरता सदा ।
दारिद्रय : दुर्नयातंक भीतीतिभिरसंगता ।। १४ ।।

यहाँ की जनता धन-जन समृद्धि के साथ जिन धर्म परायण है। जिन धर्म सेवन से शोभायमान रहती है। धर्मात्मा होने से यहाँ दुर्नय, आतङ्क इति, भीति आदि व्याधियों का नाम निशान भी नहीं है ॥ १४ ॥

विशेषार्थ :- धर्म सुख का कारण है। जहाँ धर्म और धर्मात्माओं का निवास है वहाँ आधि-व्याधि शोक-संताप आ नहीं सकते। प्रजा निरन्तर अपने धर्म कार्यों में रत है इसलिए अन्याय और तज्जन्य क्लेशों का भी यहाँ अभाव है।

कल्याण भूमयो यत्र जिनानां विहितोत्सवा:।
भक्त्यागतामरं भांति पापापोहन पण्डिता: ॥ १५ ॥

इस देश की पावन भूमि में तीर्थङ्करादि के कल्याणक—(गर्भ-जन्म, तप, ज्ञान, मोक्ष) निरन्तर सम्पादित किये जाते हैं। जिनालयों में हमेशा नाना प्रकार के उत्सव होते रहते हैं। पूजा विधानादि किये जाते हैं। यहाँ न केवल मनुष्य ही आते हैं अपितु पाप कर्म के नाश करने हेतु देव लोग भी आते हैं ॥ १५ ॥

विशेषार्थ :—इस पद्य में जिन चैत्य और जिनालय का विशेष महात्म्य वर्णित किया है। जिन बिम्ब दर्शन से अनेक भव के पापकर्म-दुष्कर्म नष्ट हो जाते हैं। नवीन पुण्योपार्जन होता है।

मध्येऽस्ति तस्य देशस्य वसन्तादि पुरं पुरम्।
निर्भर्त्सिता मराधीश नगरं निज शोभया ॥ १६ ॥

इस अनंग देश के मध्य में वसन्तपुर नाम का अति रमणीक नगर है। यह अपनी शोभा से अमरपुरी अर्थात् स्वर्ग की नगरियों की रमणीयता को भी तिरस्कृत करता है ॥ १६ ॥

महो प्रवेशमाविश्य चौरेणेव पयोधिना।
खातिका व्याजतो यत्र यहरन् हरन्नेच्छया: ॥ १७ ॥

इस नगर में चारों ओर दीर्घ खाइयाँ हैं। अनेकों नदियाँ इनमें प्रविष्ट होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानों इस रत्नगर्भा वसुधा के रत्नों को चुराने की इच्छा से ये खाइयों में प्रविष्ट हो रही हैं। अर्थात् खाइयों के बाहने से समुद्र का जल नदियों के द्वारा एकमेक कर दिया गया है ॥ १७ ॥

यत्सद्म दीर्घिका पद्मैः विकासो नाप्यते स्फुटम् ।
प्राकार कोटिसंरुद्धा दिवाकर करोत्करः ॥ १८ ॥

यहाँ विशाल प्रासाद हैं। इनके चारों ओर प्रफुल्लित कमल वन विस्तृत है। चारों ओर गगन चुम्बी कोट है उसकी उन्नत सीमा का उल्लंघन करने में रवि भी असमर्थ हो जाता है। फलतः पद्मों (कमलों) को पूर्ण विकाश पाने में बाधा आती है ॥ १८ ॥

विशेषार्थ :—कमल स्वभावतः भास्कर की निर्मल किरणों के स्पर्श से पूर्ण प्रस्फुटित विकसित होते हैं। कोट की विशेष ऊँचाई होने से रवि रश्मियाँ पूर्णरूप से नहीं आ पातीं। इसलिए बेचारे सरसिज भी पूर्ण विकासोन्मुख नहीं हो पाते। वस्तुतः यहाँ इस नगर की सुरक्षा का महत्त्व प्रदर्शित किया है।

यत्र कामिनी कपोलानां कान्तिं हर्तु मिवेंदुना ।
क्षालनाय कलंकस्य भ्राम्यते सौध सन्निधौ ॥ १९ ॥

इस विशाल नगरी के प्रासाद-महल, मकान गगनचुम्बी हैं, अति उन्नत है। इन महलों के चारों ओर ही चन्द्रमा घूम रहा हो ऐसा प्रतीत होता है। कवि की उत्प्रेक्षा है कि मानों चन्द्र यहाँ की लावण्ययुक्त रमणियों के अनुपम कपोलों की सुन्दरता को चुराने के लिए ही वह (चाँद) भ्रमण करता है। चोर रात्रि में ही चोरी करते हैं और चाँद भी निशा में संचार करता दिखलाई पड़ता है। क्यों सुन्दरियों का सौन्दर्य अपहरण करना चाहता है? तो उत्तर में—मानों वह शशि अपने मध्य में रहने वाले कलङ्क को धोना चाहता है। अभिप्राय यह है कि मन्दिरों (घरों) की ऊँचाई अधिक होने से इनके अति निकट निशापति (चन्द्रमा) घूमता प्रतीत होता है ॥ १९ ॥

सुदर्शन कुलानन्दाः सत्या सव्रताः सभाः सदा ।
प्रद्युम्न मोहिनो यत्र समाना विष्णुना जनाः ॥ २० ॥

सातिशय पुण्य शालिनी इस नगरी में सर्व भव्य जन महान पुण्यवान हैं। देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति के प्रकर्ष को सूचित करने वाला यहाँ की जनता का रूप लावण्य है। इनके देखने मात्र से आनन्द उत्पन्न होता है अर्थात् सभी मनोहर हैं, सुन्दर हैं, दर्शनीय हैं। ये सतत् सत्य

भाषी हैं मधुरालापी, सदाचारी, सरल और मन्दकषायी हैं। कामदेव को भी तृप्त करने वाले ये जन विष्णु के समान भोगानुभव करते हैं। अर्थात् धर्म पुरुषार्थ पूर्वक काम पुरुषार्थ का सेवन करते हैं ॥ २० ॥

यन्नारी नयनापाङ्ग रङ्गेनङ्गेन बल्गता।
त्रासो निः संशयं चक्रे शान्तानामपि मानसे ॥ २१ ॥

प्रमदा जन की रूपराशि-कान्ति अद्वितीय है। इन के नयन कटाक्ष कामदेव को भी उन्मत्त करने वाले हैं। साधारण जन की क्या बात शान्तचित्त साधुजन के मन को भी चञ्चल करने में समर्थ हैं। अर्थात् स्वभाव से काम विजयी जनों के मन में भी प्रवेश कर उन्हें विचलित करने में समर्थ हैं। अभिप्राय यह है कि यहाँ की रमणियाँ रति और तिलोत्तमा आदि को भी तिरस्कृत करने में समर्थ हैं। रागियों की क्या बात त्यागियों का भी धैर्य शिथिल करने में समर्थ है ॥ २१ ॥

चित्रं विचित्र कूटोऽपि जिन सद्म परंपरा।
मानोन्नतानिहन्त्याशु यस्मिन् पापानिपश्यतां ॥ २२ ॥

इस नगरी के जिनालयों की छटा अनूठी ही है। चित्र-विचित्र कलाओं से अनेकों कूट-शिखर बनाये गये हैं। विशाल और उन्नत जिनालयों के दर्शन करने से ऐसा प्रतीत होता है मानों ये ऊँचाई से शीघ्र ही दर्शकों के पाप पुञ्ज को नष्ट करने वाले हैं। अपूर्व पुण्य परमाणुओं से निर्मित समुन्नत जिनालय पाप समूह का नाश करने में पूर्णतः समर्थ हैं। अर्थात् देखते ही दर्शकों के मानसिक कालुष्य को नष्ट कर परम शान्ति प्रदान करते हैं ॥ २२ ॥

जालावलम्बो शीतांशु करस्पर्शः सुखावहः।
प्रत्यक्षेऽपि प्रिय स्त्रिभि रतान्ते यत्र सेव्यते ॥ २३ ॥

यहाँ यत्र-तत्र क्रीडा गृह बने हुए हैं। उनमें अनेकों झरोखे हैं उनसे इन्दु की किरणें रात्रि में प्रविष्ट हो कामियों का स्पर्श कर उन्हें उत्तेजित करती हैं शान्ति प्रदान करती हैं। अपनी-अपनी प्रियाओं के साथ रति सुखानुभव कर श्रमित जन अन्त में विधु (चन्द्रमा) की सुखद-शीतल चन्द्रिका किरणों को सेवन कर श्रम को दूर करते हैं। सुखोत्पादक चन्द्र ज्योत्स्ना एवं शीतल वायु मिथुनों की भ्रान्ति और क्लान्ति को दूर कर देती है ॥ २३ ॥

यान्तीनां यत्र संकेत निकेतं निशियोषितां।
निजाभरण भा भार प्रसरो विघ्न कारकः ॥ २४ ॥

इस नगरी का विलास वैभव अपूर्व है। यत्र-तत्र संकेत गृह बने हुए हैं। रात्रि में पण्यस्त्रियाँ-वेश्याएँ अथवा अन्य भोग स्त्रियाँ इन सांकेतिक निकेतनों में नाना आभरणों से सज्जित, अलंकारभार से भरित जाती हैं–आती हैं। इनके निरंकुश संचार में वह विधु-चन्द्र प्रकाश विघ्नकारक प्रतीत होता है। चोर और कुलटाओं को निशाकर की चाँदनी प्रिय नहीं लगती अपितु वे उसे अपने गुप्त कार्यों में बाधक ही मानते हैं क्योंकि मन-माना कार्य नहीं कर पाते। अतः अभिसारिकाओं को वह विघ्न कारक प्रतीत होता है ॥ २४ ॥

नित्यं सत्याग सम्पन्ना जना यत्र विमत्सराः।
एकान्त संचित द्रव्यं लज्जयन्ति धनाधिपम् ॥ २५ ॥

इस नगरी के नागरिक धर्म भावना और त्याग भाव से संयुक्त हैं। परस्पर मात्सर्य भाव से रहित हैं फिर ईर्ष्या क्यों? अपितु स्पृहा युक्त हैं। न्याय-नीति पूर्वक धनोपार्जन करते हैं। सदाचार के कारण सभी न्यायोपार्जित द्रव्य-अतुल वैभव से कुबेर को भी तिरस्कृत करते हैं। अर्थात् इनकी निरुत्सुक, त्यागमयी विभूति के समक्ष स्वयं धनद कुबेर लज्जानुभव करता है। संसार में कुबेर सर्वोत्तम धनिक माना जाता है, किन्तु इस वसन्तपुर के वैभव के समक्ष उसका भी मान गलित हो गया प्रतीत होता है ॥ २५ ॥

पद्मराग प्रभाजाल लिप्ताङ्गी मणिकुट्टिमे।
शङ्कते कामिनी यत्र कर्तुं कुंकुम् मण्डनम् ॥ २६ ॥

यहाँ जहाँ तहाँ पद्मराग मणि की कान्ति से द्योतित अङ्ग वाली मणिमय कृत्रिम पुत्तलिकाएँ बनी हैं जिनको देखते ही कामीजन शंकाकुल हो जाते हैं। उन्हें यथार्थ कामिनी समझते हैं सोचते हैं ये साक्षात् रमणियाँ कुंकुमार्चन कर अपने मुख की शोभा बढ़ा रही हैं। राज प्रासाद में पद्मराग मणियों से बनायी गई पुत्तलिकाएँ साक्षात् प्रमदा का भ्रम उत्पन्न करती हैं ॥ २६ ॥

भुजंग सङ्गतो यस्य न समश्चन्द्र शेखरः।
बभूव भूपति स्तत्र नाम्ना श्रीश्चन्द्रशेखरः ॥ २७ ॥

जिसके गले में सर्प है, मस्तक पर-चूडा में चन्द्र लगा है उसे चन्द्रशेखर-महादेव कहा जाता है। उस नगरी में इसे भ्रमति करने वाला चन्द्रशेखर नाम का राजा हुआ। वस्तुतः महादेव-शिवजी को भी अवहीलन करने वाला यह राजा यथा नाम तथा गुण संपन्न हुआ ॥२७॥

नूनं निवेशिता कान्ति रसस्नो विधिनाऽपरा।
मध्यादिन्दोः कथं तत्र कलंक किणतान्यथा ॥ २८ ॥

राजा की शरीर कान्ति विधाता ने अद्वितीय बनायी थी यही नहीं प्रत्येक आङ्गोपाङ्ग की रचना करने में मानों चन्द्रमा की समस्त कलाओं का निचोड लेकर प्रयोग किया था अन्यथा चन्द्र के मध्य में स्थित कलङ्क यहां भी आ जाता ? किन्तु उस कलङ्क से चन्द्रशेखर नृपति सर्वथा रहित था। अभिप्राय यह है कि चन्द्रमा तो कलंक सहित होता है परन्तु नृपति चंद्रशेखर निष्कलङ्क सौंदर्य सम्पन्न था ॥ २८ ॥

बभूव भुवने यस्य कीर्तिः कुन्देन्दु निर्मला।
दिगङ्गना यया रेजुः स हारलतिका इव: ॥ २९ ॥

उस राजा की कीर्ति कुन्द पुष्प की सुवासना एवं निर्मल इन्दु-चन्द्र की चांदनी के समान निर्मल दिग्दिगन्त में व्याप्त थी। संसार में मात्र व्याप्त ही नहीं थी अपितु दिशा रूपी वधुओं ने उसे अपने गले का सुन्दर हार बनाकर गले में धारण कर लिया था। जिससे वे सुशोभित हो रही थीं। अर्थात् कण्ठहार के समान राजा का यश दिशाओं ने धारण किया ॥ २९ ॥

विच्छिन्न मण्डला भोगा विकला क्षण नाशिनी।
यस्यारि संहति जाता मूर्ति रिन्दो रिवापिमा ॥ ३० ॥

इस राजा का शत्रु समूह सर्वथा विच्छिन्न था, कहीं भी कोई समूह बना कर राजा के प्रति निन्दा आदि व्यवहार नहीं करते थे। शत्रु सेना स्वयं विकल छिन्न-भिन्न हो जाती, क्षणभर में युद्ध स्थल से भाग खड़ी होती। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार चन्द्र आकाश में भ्रमण करता है परन्तु इस भूपति का शत्रु सैन्यबल मूर्ति के समान स्थित हो गया। अर्थात् राजा के बल-पौरुष के समक्ष शत्रुगण मूर्तिवत् हो गये। कोई भी इसके आगे ठहर नहीं सकता था। देखते ही शत्रु हतप्रभ हो जाते थे ॥३०॥

तीव्र प्रताप सम्पन्नो यो जगत्ताप नाशन: ।
अविग्रहोऽपि सर्वाङ्ग सौन्दर्य जितमन्मथ: ।। ३१ ।।

यद्यपि चन्द्रशेखर नृपति का प्रताप अद्वितीय था किन्तु उस प्रभुता में संताप नहीं था। अर्थात् आतंक रहित प्रभुत्व होने से जगत-प्रजा का संताप नष्ट करने वाला था। अविग्रह–शत्रुभाव विहीन होने से सौम्य आकृति था। अविग्रह अर्थात् विग्रह शरीर रहित भी अर्थ होता है। शरीर रहित अनङ्ग कामदेव को कहते हैं परन्तु यह राजा अतनु-अनङ्ग होकर भी कामदेव पर विजय करने वाला था। भोगासक्त नहीं था। सर्वाङ्ग सुन्दर होने से कान्तिमान था। इसमें विरोधाभास दिखाया है। शरीर रहित और सर्वाङ्ग सुन्दर परस्पर विरोधी हैं। परन्तु यहाँ भूपति के आन्तरिक सौन्दर्य और विषयासक्ति के अभाव से यह विरोध प्रतिभासित नहीं होता ।। ३१ ।।

कामार्थ योस्तथा भूपोय: कदाऽपि न मोदते ।
जिनोदिते यथा धर्म मार्गे नित्य मतन्द्रित: ।। ३२ ।।

इस भूपति के काम और अर्थ दोनों पुरुषार्थ होड लगाये बढ़ रहे थे किन्तु राजा इनमें मुग्ध न होकर जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित यथार्थ जिन धर्म रूप पुरुषार्थ की सिद्धि में ही सतत तत्पर रहता था। अर्थात् प्रमाद रहित जिन धर्म मार्ग में आरूढ़ रहता था—नाना प्रकार धर्म मार्ग का द्योतन करता था ।। ३२ ।।

राज विद्याश्चतस्रोऽपि भासयामास सेमुशी।
विभेव भास्वतो यस्य ककुभ: सहसंभवा: ।। ३३ ।।

चारों राज विद्याएँ—१. आन्विक्षिकी (विज्ञान), २. त्रयी (वेद), ३. वार्ता (अर्थशास्त्र), ४. दण्ड नीति (राजनीति) पूर्णत: प्रकाशित हो रही थीं। उसके वैभव रूपी चन्द्र प्रकाश से राज ज्योतिर्मय था जिस प्रकार रात्रि में चन्द्र कान्ति से दिशा मण्डल अतिशय शोभायमान होता है उसी प्रकार राजविभूति से प्रजा शोभायमान थी। वह राजनीति के छः गुणों से युक्त था—अर्थात् १. सन्धि (मेल करना), २. विग्रह (युद्ध करना), ३. यान (आक्रमण करना), ४. आसन (घेरा डालना), ५. संश्रय (अन्य राजा का आश्रय लेना) और ६. द्वैधीभाव (फूट डालना) ये षट् गुण हैं। धर्म, अर्थ और काम रूप पुरुषार्थों के समन्वय स्वरूप को

भली प्रकार जानता था तथा अर्थ, वृद्धि और स्थान व्यवस्थाओं का असाधारण ज्ञाता था। वह यह भी जानता था कि वचन, मन और देवसिद्धियों में सामंजस्य किस प्रकार किया जाय। चय, उप चय और मिश्र अभ्युदयों का नित्य साधन करता था ।। ३३ ।।

पिप्रिये प्रणतानन्त सामन्तैः शतधानहि ।
यथा स्वयं जगद्वन्द्य मुनीन्द्र पद वन्दने ।। ३४ ।।

अनेकों बार प्रेमाभिभूत सामन्तों के द्वारा वह नमस्कृत होता था। अर्थात् अनुराग भरे उसके सामन्त निरन्तर विनयावनत होते रहते। ऐसा प्रतीत होता मानों वह राजा निरन्तर श्रेष्ठ मुनिन्द्र वृन्दों के जगद्वन्ध चरणारविन्दों में नमस्कार करने से स्वयं भी वन्दनीय हो गया हो। अभिप्राय यह है कि राजा धर्मानुराग से भक्ति पूर्वक विश्व वन्द्य श्रेष्ठ मुनि पुंगवों को चरण वन्दना करता था। विनय से नमस्कार करता था। मानों इसी के फल स्वरूप उसके सामन्त जन उसे नमस्कार करते थे। अर्थात् वह सबका श्रद्धा और भक्ति पात्र हो गया ।। ३४ ।।

ईर्ष्या स्वभावत: स्त्रीणामिति मिथ्या कृतं श्रिया ।
सेविनि सुख सक्तेऽपि यत्तत्र रसिका स्वयम् ।। ३५ ।।

संसार में यह लोकोक्ति प्रचलित है कि स्त्रियों में स्वभाव से ईर्ष्या होती है अर्थात् एक-दूसरी का उत्कर्ष सहन नहीं कर सकतीं। किन्तु इसकी राज लक्ष्मी ने इस चर्चा को मिथ्या—असत्य कर दिया था। क्योंकि पृथ्वीपति के समान समस्त प्रजा वैभवशाली, आनन्द मग्न थी। सभी रसिक जन सुखानुभव करते, सन्तोष से रहते थे ।। ३५ ।।

स्वरूप सम्पदा जिग्ये यया मदन सुन्दरी ।
समभूद वल्लभा तस्य नाम्ना मदन सुन्दरी ।। ३६ ।।

इस राजा की प्रिया मदन सुन्दरी थी। यह राजा की अत्यन्त वल्लभा-प्रिय थी। इसने अपनी रूप राशि से कामदेव की पत्नि रति-मदनसुन्दरी को भी जीत लिया था। अर्थात् मदनसुन्दरी यथा नाम तथा गुण थी ।। ३६ ।।

यस्याः सौन्दर्य मालोक्य विस्मिता सुर योषितः ।
नूनमद्यापि नो जाताः सनिमेष विलोचना: ।। ३७ ।।

इसके सौन्दर्य को देखकर नगर की समस्त नारियाँ विस्मित थी।

निश्चय ही इस प्रकार की अद्भुत सुन्दरी आज तक नहीं हुयी। जिसके नयन उधर जाते वहीं उसके लावण्य रस में डूब कर रह जाते ऐसा था उसका रूप ॥ ३७ ॥

सर्वांग रमणीया याप्यवधानं विभूषणैः ।
कोमलाङ्ग्याः कृतं कान्तैर्यस्याः सारंग चक्षुषः ॥ ३८ ॥

उसका प्रत्येक अङ्ग स्वभाव से ही आकर्षक था, आभूषणों के द्वारा उसका सौन्दर्य नहीं बढ़ता अपितु आभूषण उससे शोभित होते थे। उस कोमलाङ्गी की आँखें हिरणी-मृगी के नेत्रों की कान्ति से निर्मित थी। अर्थात् मृग लोचिनी होने से मुख की कान्ति अनुपम थी ॥ ३८ ॥

लीला कमल मुल्लंघ्य यस्या मुख सरोरुहे ।
निपपात महा मोदाविन्दिर परम्परा ॥ ३९ ॥

ऐसा प्रतीत होता था मानों कमलों का समूह सरोवर में विहंसना-लीला करना छोड़कर इसके मुखरूपी सरोवर में आनन्द से आ गिरे हैं। पवन से प्रेरित कुमुद जिस प्रकार चंचल होते हैं उसी प्रकार महारानी के नयन कमल कटाक्षवाणों से चन्चल हो रहे थे मानों आनन्द के झकोरों से साक्षात् कमल ही झूम रहे हों ऐसा प्रतीत होता था ॥ ३९ ॥

यस्या मुखेन्दुना साम्यं मन्ये प्रापयितुं शशि ।
क्रियते कोर्थयते द्यापि धात्रा श्रौतान्य पक्षयोः ॥ ४० ॥

उसका मुख चन्द्र का कान्ति से बढ़कर था। चन्द्रमा अपने भ्रमण से शुक्ल और कृष्णपक्ष करता रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस महादेवी के मुख की समानता को पाने के प्रयास में ही वह इस प्रकार घूमता रहता है। क्योंकि आज तक भी उसका कृष्ण-शुक्ल पक्ष चलता आ रहा है। रानी का मुख सदा एक समान उज्ज्वल है परन्तु चाँद क्रमशः काला और पुनः शुक्ल होता रहता है ॥ ४० ॥

दधाना नव लावण्यं प्रवालाधर पल्लवा ।
शृंगार वारिधे वेला विधिना विहितेव या ॥ ४१ ॥

उसके अधर (ओठ) प्रवाल के समान अरुण वर्ण नवीन लावण्य युक्त थे। शृंगार रूपी सागर में मानों विधाता ने लहरों के रूप रची

थी। अभिप्राय यह है कि सागर की तरंगों के समान इसका सौन्दर्य तरल था ॥ ४१ ॥

यथा मुक्ताभिरामान्त निर्मला गुण संगता।
हृदि हार लतेवोच्चैः सद् दृष्ठिर्न दले परा ॥ ४२ ॥

इसके उर स्थल पर निर्मल-स्वच्छ धागा में पिरोया हार अति अभिराम-सुन्दर प्रतीत हो रहा था। दूसरे पक्ष में उसका पवित्र हृदय सद्गुणों से युक्त था। अर्थात् हृदय रूपी लता के समान अपने उत्तम गुण रूपी पत्रों से प्रत्येक के मन को आकृष्ट करने वाली थी। इसकी दृष्टि अति सरल निर्विकार और मनोहारी थी ॥ ४२ ॥

नयनालि न रेमाते तां विहाय महीभृतः।
स्वभाव सुकुमाराङ्गीं माकन्दस्येव मञ्जरीः ॥ ४३ ॥

राजा के नयन रूपी भ्रमर इसको-स्वभाव से कोमलाङ्गी, सुकुमारी को प्राप्त कर अन्यत्र जाना ही नहीं चाहते थे। आम्र-मञ्जरी के समान रानी की रूप राशि के पान करने में मत्त षटपद की भाँति राजा की दृष्टि इसी की ओर लगी रहती थी ॥ ४३ ॥

अथ तत्रैव सद्धर्म नीर निर्धौत पातकः।
जीवदेव इति श्रेष्ठी अभूव वणिजांपतिः ॥ ४४ ॥

इसी नगरी में जीवदेव नामक श्रेष्ठी था। यह वणिकपति था अर्थात् व्यापारियों में सर्वोत्तम धनाढ्य था। सद्धर्म रूपी निर्मल जल से इसने अपनी पाप पंक का प्रक्षालन किया था। अर्थात् अत्यन्त धर्मात्मा था। निरंतर धर्मध्यान में लीन रहता था ॥ ४४ ॥

नार्थानां बहु भेदानां संस्थानं यस्य वेश्मनि।
विश्रातं वाग्विलासे वा संप्रकाशो महाकवेः ॥ ४५ ॥

इसके शुभोदय से नाना असंख्य पदार्थों से इसका गृह शोभित था। यह महा कवियों के वाग्विलास का पात्र बना था। अर्थात् बड़े-बड़े कविराज इसकी प्रशंसा कर अपनी काव्यशक्ति को धन्य समझते थे ॥ ४५ ॥

पूजया जिन नाथाना मतिथीना विहाय तैः।
दीनादि कृपया चापि यत् समो जनि ना परः ॥ ४६ ॥

यह प्रतिदिन श्री जिनेन्द्र भगवान की उत्तम पदार्थों से नाना विध पूजा करता था, उत्तम, मध्यमादि अतिथियों साधुओं को विधिवत् दान देता था, वैयावृत्ति आदि तो करता ही था, दयादत्ति रूप दान देकर अपने साधर्मी जनों को भी संतुष्ट रखता था। इसके समान अन्य दयालु नहीं था। दीन दुखियों की सेवा, सहाय करने में निरन्तर तत्पर रहता था॥ ४६ ॥

असत्य वचनं लेभे जिह्वाग्रे यस्य नान्तरं।
मानसे वा महासत्य दुराचार विजृम्भिणाम्॥ ४७ ॥

यह सदैव सत्य भाषण करता था। मिथ्या भाषण कभी जिह्वा का स्पर्श ही नहीं कर सका। दुराचारी के साथ भी अनुचित व्यवहार नहीं करता था। मन सदैव स्वच्छ शुभ परिणामों से पवित्र रहता था॥ ४७ ॥

निरन्तर सदाचार नीर धाराभिषेकत:।
ववृधे विदुषा येन शश्वत् सज्जनता लता॥ ४८ ॥

निरन्तर सदाचार रूपी सलिल की धारा से अभिसिंचित सज्जनता रूपी लता विस्तार को प्राप्त हो गई थी, विद्वानों के मध्य इसकी कीर्ति लता सर्वत्र व्याप्त थी। अर्थात् विद्वज्जन सतत इसके गुणों का कीर्तन करते थे। ॥ ४८ ॥

सद्मानि येन जैनानि कारितानि विरेजिरे।
सुधासीतानि तुङ्गानि मूर्तिमन्ति यशांसिवा॥ ४९ ॥

इस श्रेष्ठी ने विशाल उत्तंग अनेक जिनालयों का निर्माण कराया, ये जिन भवन अत्यन्त शोभा युक्त थे, शुभ्र वर्ण के थे। ऐसा प्रतीत होता था मानों इसका (सेठ) पुण्य से वद्धित यश ही मूर्तिमान रूप धारण कर अटल खड़ा है—व्याप रहा है॥ ४९ ॥

भोग भौमं स्वभोगेन धमदं धन सम्पदा।
यो जिगाय महाभागो याचकामर भूरुह:॥ ५० ॥

इसने अपने भोगों से भोगभूमि को, धन सम्पदा से कुबेर को और याचकों को इच्छित दान देने से कल्पवृक्षों को जीत लिया था। अर्थात् इस महाभाग्यशाली के यहाँ भोगभूमि से भी अधिक भोग्य पदार्थ थे,

वहाँ तो मांगने पर भोग सामग्री प्राप्त होती है किन्तु इसका घर तो स्वभाव से सदा ही भोग सामग्रियों से भरा पड़ा था। दीन, हीनादि याचकजनों को इच्छित दान देता था ॥ ५० ॥

जीवजसेतिविख्याता तस्यासीत् सहचारिणी।
यथा ज्योत्स्ना शशाङ्कस्य दयासंयमिनो यथा ॥ ५१ ॥

इस सेठ के जीवंजसा नाम परम सुन्दरी, अतीव सुन्दरी पत्नी थी। यह चन्द्रमा की चांदनी के समान सुन्दर और संयमीजनों के समान दयालु थी ॥ ५१ ॥

विशुद्धो भय पक्षाया राजहंसीव मानसम्।
मुमोचतस्य न स्वच्छं गंभीरञ्च कदाचन ॥ ५२ ॥

राजहंसी के समान इसका हृदय उज्ज्वल था अथवा उभय कुल को विशुद्ध करने वाली शुभ भावनापरा थी। इसके हृदय की गम्भीरता और स्वच्छता अचल थी। अर्थात् संकटकाल में भी धैर्य को नहीं छोड़ती थी— धर्म से पराङ्गमुख नहीं होती थी ॥ ५२ ॥

खानिरौचित्य रत्नानां विनयद्रुम मञ्जरी।
सती व्रत पताकेव पश्यतां मोहनौषधिः ॥ ५३ ॥

यह औचित्य रूपी रत्नों की खान थी, विनय रूपी वृक्ष की मंजरी सदृश थी, पतिव्रत धर्म की ध्वजा स्वरूप और देखने वालों को मोहन औषधि थी। अभिप्राय यह है कि धन पाकर प्रायः व्यक्ति मदोन्मत्त, अहंकारी और व्यसनी हो जाता है किन्तु इस सेठानी का जीवन इसका अपवाद था। अतुल वैभव होते हुए भी यह विनम्र थी, सीता समान सती और सर्वजन वल्लभ-प्रिय थी अर्थात् अपने मधुर व्यवहार से सबकी प्रियपात्र थी ॥ ५३ ॥

केलिकोपाम्बराय स भुञ्जानः सुखमुत्तमम्।
दिनानि गमयामास धर्मार्थाकाम कोविदः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार यह दम्पत्ति निरन्तर निर्विघ्न नाना भोगों, क्रीड़ाओं और मनोरथों के साथ धर्म पुरुषार्थ की वृद्धि करते अर्थोपार्जन सहित समय यापन करने लगे। अत्यन्त चतुर वणिक पति अपना काल सुखपूर्वक व्यतीत कर रहे थे ॥ ५४ ॥

महोत्सगंधपुष्पादि प्रार्चना सपरिच्छदा।
श्रर्थैकदा जगामासौ प्रातरेव जिनालयं ॥ ५५ ॥

एक दिन प्रात:काल सेठानी जीवंजसा स्नानादि से निवृत्ति पाकर, शुद्ध गंध, पुष्पादि अष्ट द्रव्य पूजा द्रव्य—सामग्री लेकर सपरिवार जिनालय में गई ॥ ५५ ॥

त्रि: परीत्य तत: स्तुत्वा जिनों श्चैव चतुराशया।
संस्थाप्य पूजयित्वा च-श्रगात्थ यति संसदम् ॥ ५६ ॥

प्रथम त्रिकरण शुद्धि पूर्वक जन्म जरा मरण विनाशक तीन प्रदक्षिणा-परिक्रमा लगाईं। पुन: स्तुति की। स्तवन कर चतुर्मुखी प्रतिमा स्थापन कर साभिषेक भक्ति से पूजा की। तत्पश्चात् यतियों की परिषद् में गई अर्थात् जिनालय में विराजमान मुनिराजों के दर्शनार्थ सभा में गई ॥ ५६ ॥

श्रस्ति यत्र समस्तार्थ भाषी दिव्यावधीक्षण:।
गुणचन्द्र गुणाधीशो भव्यांभोरुह भास्कर: ॥ ५७ ॥

वहाँ समस्त तत्त्वार्थ के भाषी, दिव्य अवधिज्ञानी श्री गुणचन्द्र नाम के गणाधीश-आचार्य वर्य विराजमान थे। ये भव्यरूपी कमलों को प्रमुदित करने वाले भास्कर-सूर्य थे ॥ ५७ ॥

तं ससंघं ततो नत्वा निविष्ठा निकटे तत:।
कथ्यमानां प्रसङ्गेन कथां पौराणिकीं तदा ॥ ५८ ॥

उन यतिराज की ससंघ वन्दना की—नमस्कार किया तथा कुछ निकट ही बैठ गई। धर्मोपदेश चल रहा था, उसी समय प्रसङ्ग के अनुसार आचार्य परमेष्ठी एक पौराणिक कथा का वर्णन कर रहे थे ॥ ५८ ॥

शुश्रावतां गृहावतां कृता यस्यां प्रशंसा पुत्रत: स्त्रियाम्।
अपुत्राणां प्रबन्धेन निन्द्योत्पत्तिरपि ध्रुवम् ॥ ५९ ॥ युगलम् ॥

उसमें—उस कथा में पुत्रवन्ती स्त्रियों की प्रशंसा और पुत्र विहीनों की निन्दा का भी प्रकरण बतलाया। निश्चय ही पुत्र विहीना नारी निन्दा की पात्र होती है ॥ ५९ ॥

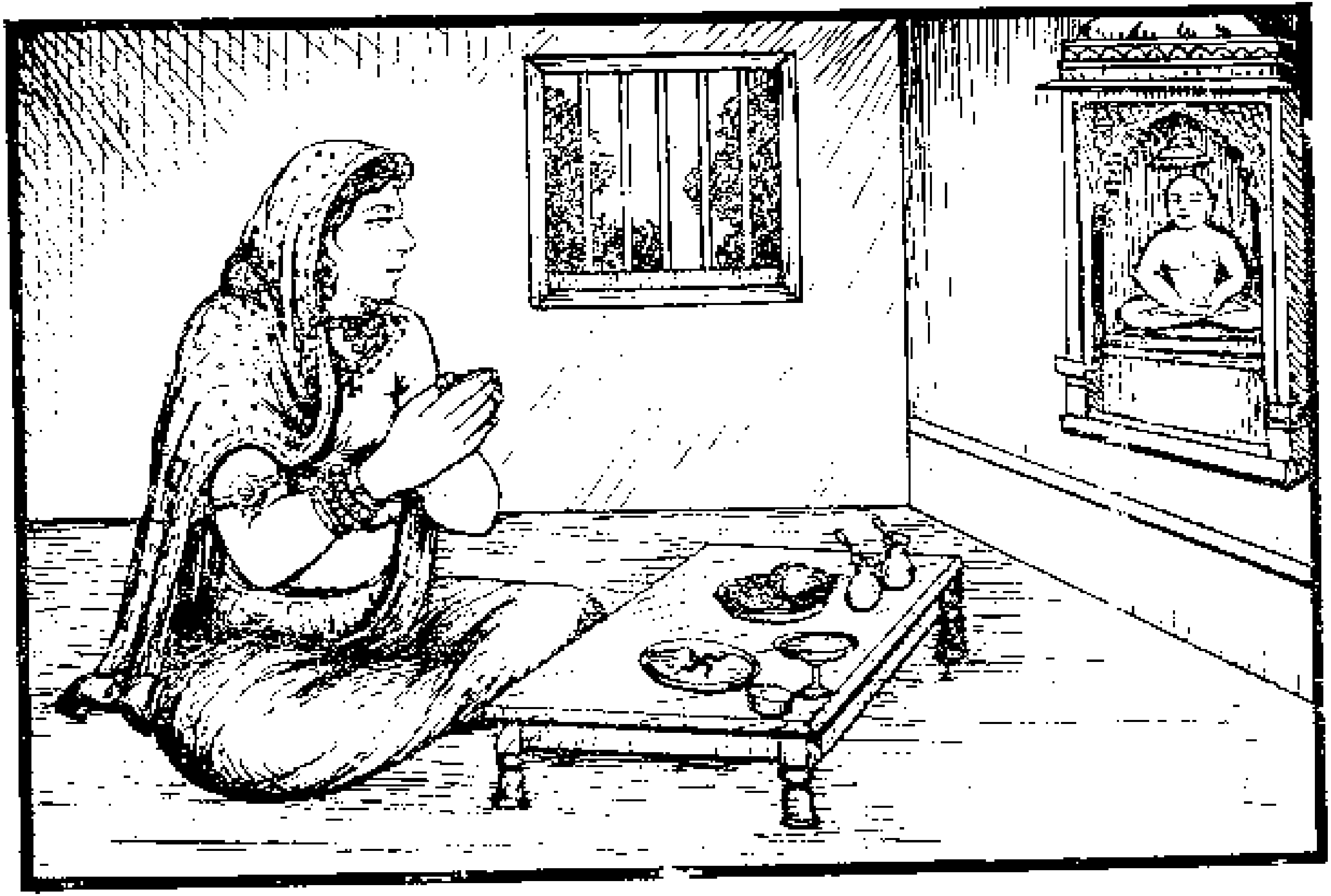

[illegible] जिनेन्द्र भगवान की पूजा करती हुई

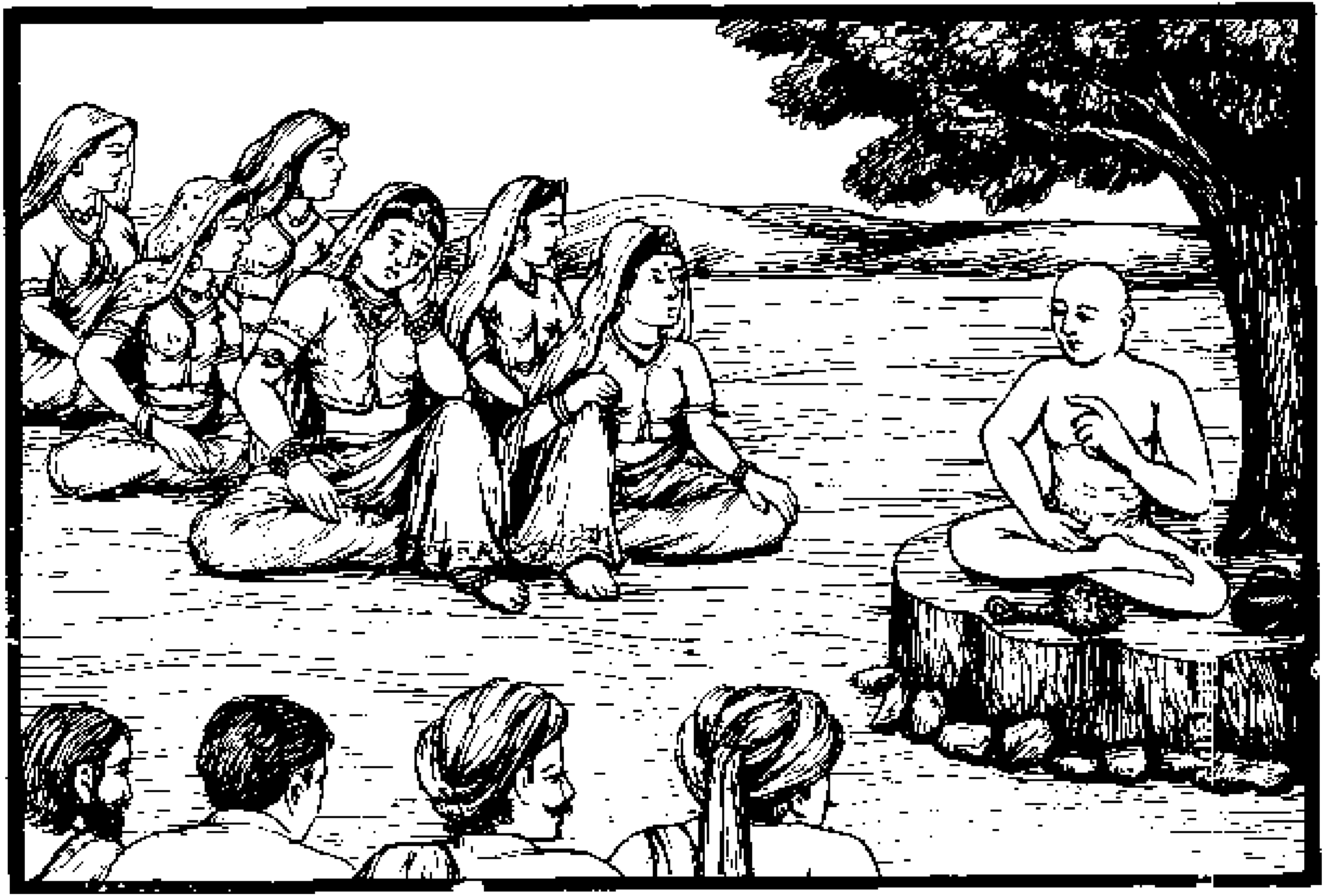

श्री १०८ गणाधीश आचार्य गुणचन्द्र महाराज की सभा में सेठानी जीवंजसा

तां निशम्य महाशोक शङ्कुनेव हता हृदि ।
चिन्तयामास साध्वीति बास्य पूरितसर्गं विलोचना ॥ ६० ॥

इस कथा को सुनकर श्रीकांता सेठानी का हृदय शोकरूपी अंकुश से बिंध गया, उसके कमलनयन अश्रुविगलित हो गये, मुख म्लान हो गया और वह चिन्तातुर हो शोक सागर में डूब गई ॥ ६० ॥

अशोकस्तबकेनेव यौवनेन ममामुना ।
रागिणाकेवलं किन्तु न यत्र फल संभव: ॥ ६१ ॥

वह विचारने लगी, श्रोह मेरा जीवन अशोक वृक्ष के समान है—मात्र सुन्दर पल्लवों का गुच्छा समान यौवन है, यह रागियों को प्रेमोत्पादक है परन्तु फल रहित होने से निस्प्रयोजन है ॥ ६१ ॥

वारिधे रिव लावण्यं विरसं मम सर्वथा ।
न यत्रापत्य पद्मानि तेन कान्त जलेन किम् ॥ ६२ ॥

मेरा लावण्य सागर के खारे जल के समान सर्वथा व्यर्थ है । उस सुन्दर सरोवर के जल से भी क्या प्रयोजन जिसमें कमल समूह न खिले हों अर्थात् पुत्र के समान कमल विहीन सरोवर शोभा रहित है उसी प्रकार मेरा सौन्दर्यरस पुत्र न होने से विरस ही है ॥ ६२ ॥

नाममात्रेण सा स्त्रीतिगुण शून्येन कीर्त्यते ।
पुत्रोत्पत्त्या न या पूता यथा शक्र वधूटिका ॥ ६३ ॥

पुत्रोत्पत्ति नारी का गुण है इसके बिना वह "स्त्री" केवल नाम मात्र की पत्नी है । यथा इन्द्र वधूटी । इन्द्राणी हुयी तो क्या कुल वर्द्धन करने में वह समर्थ नही है । अथवा सर्प की बांबी से भी निकलने वाली भूम को शक्रवधूटिका कहते हैं किन्तु उसमें वधू के गुण हैं क्या ? नहीं । नाम मात्र की वधूटिका है ॥ ६३ ॥

प्रसादोपि न मे भर्तु: शोभायै सूनुना विना ।
शब्दानु शासने नेव विद्वत्ताधा विजृंभितम् ॥ ६४ ॥

यद्यपि पतिदेव का मुझ पर अपूर्व प्रसाद है—प्रेम है किन्तु सुनु-पुत्र बिना वह भी मेरी शोभा बढ़ाने वाला नहीं है । केवल शब्दानुशासन में प्रयुक्त विद्वत्ता व्यापक नहीं हो सकती ॥ ६४ ॥

साऽहंमोह तमश्छन्ना निशेवो द्वेग दायिनी।
दीप्यते यदि नो पुत्र प्रदीपः कुल वेश्मनि ॥ ६५ ॥

मैं केवल मोह तम से आच्छन्न उद्वेग दायिनी ही हूँ क्योंकि कुल प्रकाशक दीप स्वरूप पुत्र उत्पन्न नहीं कर सकी। घर का अंधकार पुत्र द्वारा ही नष्ट होता है। मेरा सेवन कर पतिदेव का मात्र उद्वेग ही बढ़ेगा अतः मेरा जीवन व्यर्थ है ॥ ६५ ॥

चिन्तयन्तीति सा बाला कपोल न्यस्त हस्तका।
पातयामास सभ्यानां नेत्रभृङ्गात् मुखाम्बुजे ॥ ६६ ॥

इस प्रकार वह बाला अपने कपोल पर हाथ रखकर चिन्तवन करने लगी। उसके सरल सुन्दर नेत्रों से अश्रुधारा कपोलों पर पड़ने लगी। मानों नेत्र रूपी शृंगार झारी से पड़ती हुयी धारा उसके मुख कमल पर गिरने लगी ॥ ६६ ॥

पेतुर्यथा यथा तस्याः सुभ्रुवो बाष्प बिन्दवः।
भेजुस्तथा तथा दुःखं मानसानि सभासदाम् ॥ ६७ ॥

जैसे-जैसे उसके अश्रु बिन्दु गिरते वैसे-वैसे वहाँ उपस्थित सभासदों के मानस में दुःखोत्पादन करने लगीं अर्थात् सभा में चारों ओर शोक का वातावरण फैल गया। सभी उसके दुःख से क्षुभित हो उठे ॥ ६७ ॥

सभां विस्मय सम्पन्नां तां च दुःख भरालसाम्।
अथालोक्य जगादासौ कृपयेति यतीश्वरः ॥ ६८ ॥

यह देखकर करुणा निधान गुरुवर्य मुनिराज कहने लगे अर्थात् आश्चर्य चकित सभा और दुःख के भार से पीडित सेठानी को देखकर परम कृपालु यतिराज आश्वासन देते हुए इस प्रकार दिव्य वाणी में बोले ॥ ६८ ॥

विशुद्ध हृदये कार्षीः शोक सागर मज्जनं।
मा वृथैव यतः शीघ्रं सफला स्ते मनोरथाः ॥ ६९ ॥

हे विशुद्ध हृदये: शोक मत कर। क्यों शोक रूपी सागर में स्नान करती हो? अर्थात् शोक सागर में मत डूबो, वृथा ही क्लेश मत करो। तुम्हारा मनोरथ शीघ्र ही सफल होने वाला है ॥ ६९ ॥

निशाकर कराकार कीर्ति व्याप्त जगत्त्रयः ।
गाम्भीर्यौदार्य शौर्याद्यं च सौन्दर्य कुलमन्दिरम् ॥ ७० ॥

आचार्य श्री कहने लगे, हे भद्रे तुम्हारा पुत्र चन्द्रमा के समान सुरुप, तीन लोक व्यापी कीर्तिवाला अर्थात् मुक्तिरमा वरण करने वाला, गाम्भीर्य, औदार्य, वीरत्व, आदि गुण मण्डित होगा सौन्दर्य का आकार और कुल मण्डन-भूषण स्वरुप होगा ॥ ७० ॥

त्रिवर्ग रचना सूत्र धारस्तव तनूरुहः ।
समग्र गुण माणिक्य रोहणाद्रि रिवापरः ॥ ७१ ॥

त्रिवर्ग का सूत्र धार होगा । अर्थात् धर्म, अर्थ, और काम तीनों वर्ग एक साथ वृद्धिगत करने में निपुण होगा, समग्र गुणयुत होगा । साक्षात् माणिक्य पर्वत के समान तुम्हारा पुत्र रत्न होगा ॥ ७१ ॥

भद्रं भूषयिता भव्यो गगनं भानुमानिव ।
कुलं कतिपयैरेव वासरैः साधु वत्सले ॥ ७२ ॥

गगन में जिस प्रकार सूर्य अपने प्रताप से समस्त दिशाओं को शोभित करता है उसी प्रकार कुछ ही दिनों में तुम्हारे कुल का भूषण भद्रपरिणामी पुत्र होगा, हे साधु वत्सले तुम शोक मत करो ॥ ७२ ॥

उल्लासं कमपि प्राप तेन सा वचसा यतेः ।
घर्मान्त तोयदोन्मुक्ता तोयेनेव लता तदा ॥ ७३ ॥

इस प्रकार के उत्तम साधु वचनों को सुनकर सेठानी को परमानन्द हुआ, मन में उल्लास उमडा, मानों घाम-धूप से सूखी लता को शीतल मेघ जल मिल गया है । अर्थात् ग्रीष्म ऋतु की भीषण धूप से लताएं कुम्हला जाती हैं वर्षाऋतु आते ही वृष्टि होने पर जल पाकर प्रफुल्ल हो जाती हैं उसी प्रकार पुत्राभाव की पीडा से शोकाकुल सेठानी पुत्रोत्पत्ति सुनकर हर्षित हो उठी । संसारी जीवों की यही दशा है ॥ ७३ ॥

महा विस्मय सम्पन्ना सा शशंस सभा मुनिम् ।
नत्वा ज्ञात यथा भावी वृत्तान्ता साप्यगाद् गृहम् ॥ ७४ ॥

इस प्रकार मुनीश्वर की भविष्यवाणी सुनकर समस्त सभा परमाश्चर्य को प्राप्त हुयी । सभी मुनिराज की ज्ञान गरिमा की प्रशंसा करने लगे । क्रमशः सभी नमस्कार कर अपने-अपने घर चले गये । सेठानी भी भावी वृत्तान्त ज्ञात कर निज गृह को लौट आयी ॥ ७४ ॥

किं वदन्त्या तया चक्रे श्रेष्ठिनोऽपि मनस्तथा।
अनल्प काल सम्बन्ध सफलाशेष वाञ्छितम् ।। ७५ ।।

शनैः शनैः सेठानी को पुत्र प्राप्ति सम्बन्धी किंवदन्ती चारों ओर फैल गयी। सेठ ने भी सुना, कि अल्प काल में ही हमारा मनोरथ सफल होगा वाञ्छित पदार्थ की प्राप्ति की अभिलाषा किसे नहीं होती ? सभी चाहते हैं ।। ७५ ।।

अथ केष्वऽपि जातेसुवासरेषु बभार सा।
गर्भम भू लवच्छन्नभानु बिम्ब मिवेन्द्र दिक् ।। ७६ ।।

कुछ दिनों के बाद सेठानी ने गर्भधारण किया। जिस प्रकार मेघों से प्रच्छन्न सूर्य के प्रताप से दिशाएँ शोभित होती हैं उसी प्रकार गर्भस्थ बालक के प्रताप से वह शोभित हुयी ।। ७६ ।।

गुणानामिव भारेण गर्भस्तस्य शिशोस्तथा।
मन्दं मन्दं मही पीठे विचक्राम मृगेक्षणा ।। ७७ ।।

पुत्र रत्न के गुणों के भार से बोझल हुयी वह मृग नयनी मन्द-मन्द गमन करने लगी। पृथ्वी पर धीरे धीरे चलती थी ।। ७७ ।।

मलीमस मुखौ जातौ स्तनौ तस्याः समुन्नतौ।
सद्वृत्पादाविव स्वस्य मन्य मानौ बधः स्थितिं ।। ७८ ।।

उसके दोनों स्तनों का अग्रभाग श्यामवर्ण हो गया, स्तन उन्नत हो गये। उनके उत्थान-पतन से वह पीडा का अनुभव करने लगी ।।७८।।

गर्भस्थ यश से वास्याः पाण्डुता जनि गण्डयोः।
तेजसेव भ्रू वोश्चक्रे सोत्कंपं वचन क्षणे ।। ७९ ।।

उसके गण्डस्थल कपोल पीले पड गये मानों गर्भस्थ बालक का यश ही बाहर आकर बिखर गया हो। उसकी वचनावली के साथ चमकती भौंहो का क्षेप मानों बालक के तेज का द्योतन करता था ।। ७९ ।।

रोमराजिस्तदा तस्या स्तथाभूद् बहिरुद्गता।
शंकेहं पूर्व सन्ताप शिखिधूम शिखेव सा ।। ८० ।।

उसके शरीर की रोमराजी खडी हो गई अर्थात् सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो गया। ऐसा प्रतीत होता था पूर्व में पुत्राभाव का

शोक धूम बनकर बाहर निकल रहा हो। अर्थात् प्रथम संतान न होने का संताप मानों अब धुंआ की शिखा बनकर शरीर पर छा गई है ॥८०॥

जृंभारंभो मुखे तस्या विशेषात् समजायत।
उष्मणेव तदा तस्या महाभागस्य तेजसाम् ॥ ८१ ॥

वह बार-बार जंभाई लेने लगी। श्वास भी उष्ण आने लगी। मानों महा भागी पुत्र के तेज से ही वह उष्ण हो गई हों ॥ ८१ ॥

पूजोत्सवे जिनेन्द्राणां दोहदं विदधे सुधीः।
प्रफुल्ल वदनाम्भोज बन्धुवर्गं च सर्वतः ॥ ८२ ॥

जिनेन्द्र भगवान की परम पूजा करूँ, अर्चना करूँ नाना प्रकार पूजोत्सव मनाऊँ इस प्रकार के दोहले उसे उत्पन्न हुए। समस्त बन्धु वर्गों में सर्वत्र प्रफुल्लता हो सभी के मुख कमल प्रफुल्ल रहें इस प्रकार के मनोरथ जागृत होने लगे ॥ ८२ ॥

पूर्णेथ समये साध्वी प्रसूता सुतमुत्तमम्।
प्राचीव भास्करा कारं प्रभाते बाल भास्करम् ॥ ८३॥

सभी दोहलों की पूर्ति कर उसने गर्भ समय पूर्ण होने पर उत्तम पुत्र रत्न को प्रसव किया। जिस प्रकार पूर्व दिशा रवि को उदित करती है उसी प्रकार उसने बालभास्कर की शोभायुक्त बालक को जन्म दिया बाल सूर्य की लालिमा से जिस प्रकार रात्रि जन्य अंधकार नष्ट हो जाता है सर्व जीव प्रफुल्ल हो जाते हैं उसी प्रकार सबके मनोरथों को सिद्ध करने वाला आमोद वर्द्धक यह शिशु प्रसवित हुआ ॥ ८३ ॥

पुत्रोत्सव

श्रेष्ठिना वाञ्छिता दुच्चैरधिकं मुदितात्मना।
दत्तं धनमनालोक्य पुत्र जन्मनिवेदिताम् ॥ ८४ ॥

हे श्रेष्ठिन् आपके पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार की सूचना सुनकर सेठ महा मुदित, आनन्द गात्र हो गया उसके हर्ष की सीमा न थी। उसने आनन्दातिरेक से पुत्र प्रसव की सूचना देने वाले का मुख भी नहीं देखा सुनने के साथ ही वाञ्छा से अधिक प्रचुर धन, उसे प्रदान किया। अर्थात् पुत्रोत्पत्ति का समाचार देने वाले को नाना वस्त्रालंकार प्रदान किये। वह इतना आनन्द विभोर हो गया कि "क्या देना क्या नहीं" यह सोच भी नहीं पाया जो पाया वही उसे दे दिया। ठीक ही है

रसायन सेवन सबब सुखकर होता है रोग होने पर तो कहना ही क्या है ? लम्बे समय की प्रतीक्षा के बाद पुत्र प्राप्ति असीम हर्ष का कारण क्यों नहीं होगी ? होगी ही ॥ ८४ ॥

नृत्य वादित्र संगीत मय माशु समन्ततः ।
तदा हृत्यादिनैवाशु तद्भूव पुरं तदा ॥ ८५ ॥

शीघ्र ही सेठ की आज्ञानुसार चारों ओर पुत्र-जन्मोत्सव मनाया जाने लगा। यत्र-तत्र नृत्यकार नृत्य करने लगे, वादित्र बज उठे, संगीत होने लगा, कुछ ही क्षणों में बिना प्रयास के पूरा नगर उत्सवमय हो उठा ॥ ८५ ॥

स न कोऽपि नरस्तत्र यो नानंद भरालसः ।
समभूद्याच कोवाऽपि यो न पूर्ण मनोरथः ॥ ८६ ॥

उस समय नगरी में एक भी मनुष्य ऐसा नहीं था जो आनन्दविभोर न हो, न कोई याचक था जिसका मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ हो। भावार्थ सेठ अपने सदाचार से सर्वप्रिय था, उसके हर्ष से सभी झूम उठे। याचकों को किमिच्छक दान दिया। अतः सभी सफल मनोरथ हो गये ॥ ८६ ॥

जात कर्म कृतं तस्य सोत्सवं तपरं ततः ।
यथाक्रमं पुनश्चक्रे पूजयित्वा जिनेश्वरान् ॥ ८७ ॥

जिनदत्ताभिधां तस्य बन्धु वृन्दं समन्विताः ।
कृत कृत्यमिवात्मानं मेनेसौ नैगमाधिपः ॥ ८८ ॥

जन्म होते ही उत्सव पूर्वक उस नवजात शिशु का जातकर्म किया गया। पुनः यथाक्रम से श्री जिनेश्वरों देवाधिदेव अर्हन्तों—भगवान की पूजा कर विधिवत् उस बालक का नामकरण संस्कार किया गया। सर्व बन्धु-बान्धवों को समन्वित कर पुरोहित महाराज ने शुभ लग्नादि का विचार कर उस नवजात बालक का नाम "जिनदत्त" घोषित किया और अपने को कृत-कृत्य मनोरथ अनुभव किया। अर्थात् जिनेन्द्र पूजन के दोहले के अनुसार ही यथागुण तथा नाम स्थापित कर ज्योतिषज्ञ को अत्यन्त सन्तोष हुआ ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

ववृधे बन्धु पद्मानामानंदं विधत् परम् ।
उपविन्दन कलाश्चित्रं सोऽपि बाल दिवाकरः ॥ ८९ ॥

वह बाल रवि अपने बन्धुवर्ग रूपी कमलों को प्रफुल्लित करता हुआ

जिनदत्त का जन्म

जिनदत्त शिक्षा ग्रहण करते हुए ।

नाना चित्रकलाओं के कौशल के साथ वृद्धिगत होने लगा। जिस प्रकार प्रातः उदित होते ही भास्कर अपनी कोमल अरुण किरणों से सरोवर में मुदित कमलों को मुकलित कर देता है विकसित कर देता है उसी प्रकार जिनदत्त बालक ने अपने परिवार के सदस्यों को अपनी बालसुलभ क्रीडाओं से प्रमुदित कर दिया था ।। ८९ ।।

तत्यजे भाव गर्भाभं तनुजा तेन शैशवं।
शनैः शनैः सदाचार पुरुषेर्षा केतवम् ।। ९० ।।

शनैः-शनैः उसने गर्भ से उत्पन्न होने वाली आभा को त्याग दिया अर्थात् बालावस्था में प्रवेश किया। सदाचारी पुरुषों के साथ क्रीड़ा करता बढ़ने लगा ।। ९० ।।

ततोऽसौ श्रेष्ठिना तेन श्रावकस्य महामते:।
समर्पित: प्रयत्नेन पठनाय यथाविधि: ।। ९१ ।।

श्रावकोत्तम श्रीमान् सेठ ने अपने सुयोग्य पुत्र को योग्य उपाध्याय को समर्पित किया। यथाविधि पढ़ने को भेजा। महामति-ज्ञानी सेठ ने पुत्र का विद्यारम्भ संस्कार सविधि सम्पन्न किया ।। ९१ ।।

वासरैर्गणितै रेव सर्व शास्त्र महार्णवम्।
सततार महा बुद्धिनावा विनय सङ्कृत: ।। ९२ ।।

कुछ ही दिन व्यतीत होने पर उस कुशाग्र बुद्धि बालक ने सम्पूर्ण शास्त्रों को हृदयस्थ कर लिया। अपनी विनय रूपी नौका द्वारा उस बालकुमार ने सर्व-शास्त्र रूपी महासागर को पार कर लिया। अर्थात् सम्पूर्ण कलाओं में पारङ्गत हो गया ।। ९२ ।।

शस्त्राण्यपि ततस्तेन विज्ञातानि महात्मना।
धनुर्वादीनि यत्नेन समाराध्याशु तद्विद: ।। ९३ ।।

शस्त्र विद्या का भी पारगामी हुआ। शीघ्र ही वह महात्मा धनुर्विद्या आदि में परमयत्न से निपुण हो गया। अर्थात् समस्त शस्त्र कलाओं में नैपुण्य प्राप्त कर लिया ।। ९३ ।।

प्रागल्भ्यं किमपि प्राप व्यवहार विधौ तथा।
यथा तातादयस्तस्य जाता: प्रज्ञासु शिष्यिम: ।। ९४ ।।

व्यवहार विधि-लौकिक व्यवहार में भी उत्कृष्ट योग्यता प्राप्त की।

जिस प्रकार उसके दादा आदि वंश परम्परानुसार प्रज्ञा सम्पन्न थे उसी प्रकार यह भी प्रज्ञाजीवी हुआ ॥ ९४ ॥

ततो तस्य ततश्चाङ्गो यौवनेन तथा पदम् ।
अनङ्गेन यथा स्त्रीषु संमोहायुध मावधौ ॥ ९५ ॥

अब वह किशोर अवस्था परित्याग कर यौवनावस्था में प्रविष्ट हुआ। कामदेव के समान स्त्रियों में सम्मोह उत्पन्न करने वाले साक्षात् कामबाणों को मानों धारण किया ॥ ९५ ॥

गगनमिव शीतांशो रश्मिभिः सत्तपोभि ।
र्यतिरिव नर नाथो न्याय मार्ग रूपेतः ॥ ९६ ॥

जिस प्रकार आकाश में चन्द्र शोभित होता है, श्रेष्ठ तप के द्वारा यति और न्याय मार्गानुसार चलने से नृपति शोभित होता है उसी प्रकार यह यौवन भार से अलंकृत हुआ ॥ ९६ ॥

तरुरिव नव पुष्पं राज हंसः समन्तात् ।
सर इव शुशुभेऽसौ यौवनेन कुमारः ॥ ९७ ॥

नवीन पल्लवों एवं पुष्पों से तरु-वृक्ष, राजहंसों से परिवेष्टित सरोवर के समान यह कुमार यौवन रूपी लालित्य से शोभायमान हुआ ॥ ९७ ॥

सकल सुभग सीमा माननीयो जनानाम् ।
जिनपति पदभक्तो भव्य वात्सल्य सक्तः ॥
कुल कमल विवस्वान् कीर्ति वीची सरस्वान् ।
अनुपम गुण राशिश्चन्द्रसौम्यो ननन्दः ॥ ९८ ॥

श्रेष्ठ सुन्दर, शीलवती स्त्री समस्त जन-समुदाय को मान्य होती है, जिनेन्द्र प्रभु के चरण कमल का भक्त सभी का वात्सल्यपात्र हो जाता है, सूर्य सरोवरों में पद्म राजि को विकसित कर कीर्ति भाजन होता है उसी प्रकार जिनदत्त कुमार अपने कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान एवं सरल सौजन्य से सर्वजनों को आनन्द उत्पन्न करने में समर्थ हुआ। अर्थात् सबका स्नेह भाजन बन गया ॥ ९८ ॥

इति प्रथमः सर्गः

(द्वितीय—सर्ग)

वधान्स्यापि तस्याथ यौवनं नयनामृतं ।
बभुव मानसंनित्यं नारी सुख पराङ्मुखम् ॥ १ ॥

यद्यपि जिनदत्त कुमार यौवन की पराकाष्ठा पा चुका । वह नयनों में अमृत घोलता, अङ्ग-प्रत्यङ्ग से सौन्दर्य भरता, किन्तु यह यौवन की मादकता उसके मन को विकृत नहीं कर सकी । वह अङ्गना संग से पूर्णतः विरक्त रहा ॥ १ ॥

काव्यामृत रसास्वादे विनोदेन कदाचन ।
वाद जल्प वितण्डादि चर्चया चतुरोन्यदा ॥ २ ॥

वाहनेन तुरङ्गाणां शास्त्राभ्यासेन कहिचित् ।
परीक्षणेन रत्नानां साधूनां सेवयान्यदा ॥ ३ ॥

विनोद भरा वह काव्यामृत का पान करता, कभी वाद-विवाद कर जयशील होता है वितण्डादि चर्चाओं में मनोरंजन करता । अश्व-गजादि वाहनों पर आरूढ़ हो वनविहार आदि करता कभी शास्त्राभ्यास में लीन होता एवं इच्छानुसार रत्नपरीक्षा कर अपनी बुद्धि कौशल का प्रयोग करता तथा समयानुसार साधुवर्ग की सेवा वैयावृत्ति, विनयादि द्वारा अपने को धन्य धन्य मान प्रमुदित होता था ॥ २—३ ॥

पूजोत्सवं जिनेन्द्राणां राजकार्यैः कदापि च ।
इत्यादि चारु चेष्टाभि रसक्तो विषयेष्वसौ ॥ ४ ॥

यदातदा श्री जिनेन्द्र देव की विशेष पूजा आदि उत्सव करने में संलग्न होता था । तथा जब कभी राजकार्यों द्वारा समय यापन करता था । इस प्रकार नाना शुभ-चेष्टाओं में रत रहता किन्तु विषयों से सतत अलिप्त रहा ॥ ४ ॥

समस्तसुख सम्पत्ति समुग्धो बुध वल्लभः ।
दिनानि गमयामास वयस्यैः सहितो मुदा ॥ ५ ॥

समस्त सुख सम्पत्ति का भोग करते हुए भी काम भोगों से विरक्त विद्वानों का प्रिय वह अपने समवयस्क मित्रों के साथ सुख पूर्वक जीवन बिताने लगा ॥ ५ ॥

विमुखं तं ततो ज्ञात्वा तस्मिन् दार परिग्रहे ।
स बन्धुर्विदधेय त्तं सूनो रंजयितुं मनः ।। ६ ।।

यौवन वृद्धि के निर्विकार कुमार को देखकर पारिवारिक जन उसका मन रंजायमान करने की सोचने लगे। वे सोचने लगे यह स्त्री परिग्रह किस प्रकार स्वीकार करे, इसके लिए कोई उपाय सोचना चाहिए। विवाह करने की ओर इसका तनिक भी भाव नहीं है। अतः सभीजन उसे विवाह की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करने लगे ।। ६ ।।

यत्र चित्र रत क्रीडा रसिकानि विलासिनाम् ।
मिथुनानि निशीदन्ति तेषूद्यानेषु नीयते ।। ७ ।।

जिन उद्यानों में मिथुन-स्त्री-पुरुष क्रीडा करते थे, बैठते थे, आमोद-प्रमोद करते उन उद्यानों में उसे ले जाया गया ।। ७ ।।

क्रीडत् कान्ता स्तनाभोगसङ्ग संक्रान्त कुंकुमाः ।
वापीः पद्मानना स्तस्य दर्शयन्ति जना निजाः ।। ८ ।।

उन उद्यानों में क्रीडा-संभोगादि करने वाली नारियों के स्नान करने से वापिकाओं का जल कुंकुम से अरुण हो गया था, स्तनाभोग से संक्रान्त भाराक्रान्त पद्ममुखी वराङ्गनाओं से व्याप्त वापिकाओं पर ले जाकर कुमार को दिखाया गया ।। ८ ।।

दर्शनादेव याश्चित्तं मोहयन्ति यतेरपि ।
स्नानादि विधये तस्यनियुक्ता स्तामृगीदृशः ।। ९ ।।

पण्याङ्गना जना यत्र द्रावयन्ति मुखेन्दुभिः ।
चेतांसि पश्यतामाशु चन्द्रकान्त मणिरिव ।। १० ।।

ये वापिका देखने मात्र से यतियों के मन को भी आकर्षित कर लेती हैं। वहाँ मृगनयनी स्नानादि विधि इसी प्रकार से करती हैं। उन स्थलों पर ले जाकर उसको रमण कराती हैं। जहाँ शृंगार रस भरी वेश्याएँ अपने मुख चन्द्रों से भोगियों के मन को द्रवित कर देती हैं। शीघ्र चन्द्रकान्ति मणि के समान पुरुषों का मन साद्र-द्रवित हो जाता है उन्हें देखते ही। अर्थात् मुखचन्द्र समान वेश्याएँ जहाँ विलास कर रही हैं वहाँ पुरुषों का मन चन्द्रकान्त मणि के समान सजल-प्रेमरस पूरित हो

जिनदत्त को उद्यान में क्रीड़ारत स्त्री पुरुषों को दिखाते हुए

वापिकाओं के जल में स्नान करती नारियों को देखते हुए—जिनदत्त

जाता है उन स्थलों पर कुमार को ले जाकर रमाने का प्रयत्न करते ॥ ९–१० ॥

इतस्ततः स्थिताः स्फार शृंगाराः स्मरजीविनम् ।
गमयन्ति गताशंकस्तेकारतो नैवतं यथा ॥ ११ ॥

उसको चारों ओर काम भोग-शृंगारादि से जीविका चलाने वाले घेरे रहते । परन्तु कुमार के मन को विकृत करने में कोई समर्थ नहीं हुआ । सभी को निराशा ही हाथ लगी ॥ ११ ॥

विचित्राणि च वस्त्राणि समं माल्यविलेपनैः ।
विभूषणांश्च यच्छन्ति प्रत्यहं तस्य ते निजाः ॥ १२ ॥

ताः कथास्तानि गीतानि तानि शास्त्राणि नर्मतत् ।
कुर्वन्ति सुहृदस्तस्य दीप्यते येन मन्मथः ॥ १३ ॥

प्रारभ्यते पुरस्तस्य परं प्रेक्षणकं च तत् ।
राग सागर कल्लोलैः प्लाव्यन्ते येन देहिनः ॥ १४ ॥

नाना प्रकार के सुन्दर-आकर्षण भरे वस्त्र आभूषण, विभूषा के प्रसाधन माल्य कुसुमादि उसके लिए प्रतिदिन दिये जाते हैं, राग वर्द्धक कथाएँ सुनाते हैं, कामोद्दीपक राग रागनियां-संगीत सुनाये जाते हैं, ऐसे कामतन्त्र शास्त्र सुनाये-पढाये जाते हैं ताकि किसी प्रकार उसके हृदय में काम वासना उद्दीप्त हो, जागे ये ही प्रयत्न किये जाते हैं किन्तु उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । जिससे प्राणियों के हृदय में राग-सागर उमड पडे इसी प्रकार के उसे नाटक दृश्य आदि दिखलाये जाते हैं, ऐसे ही समवयस्कों के साथ उसे रमाने की चेष्टाएँ की जाती हैं, उसी प्रकार की नाट्य शालाओं में ले जाया जाता है किन्तु सब निष्फल ही प्रतीत होता है ॥ १२–१३–१४ ॥

इस प्रकार समय बीतता गया । समय की चाल को कौन रोक सकता है । क्षण-क्षण पल-पल कर उसे तो जाना ही है अतीत की ओर । अस्तु,

अथैकदा वयस्यासौ नियमभवित संगीतं ।
वयस्यैः सहितस्तुंगं कोटिकूटं जिनालयम् ॥ १५ ॥

किसी एक दिन वह अर्द्ध विकसित कलिका-कुमार अपने मण्डन एवं संगीतकार मित्र मण्डली के साथ जिनालय में गया। यह जिन भवन करोड उत्तुंग शिखरों से युक्त था, नाना विध चित्रकला, शिल्पकला, नक्काशी कला से परिव्याप्त था अति विशाल और उत्तुंग था ॥ १५ ॥

सोपान पङ्क्तीं दिव्यां समारुह्य ततः स्थितिः ।
ददर्श क्षणमात्रं सद्वार मण्डपमुत्तमम् ॥ १६ ॥

इसकी अनुपम कला निरीक्षण करता हुआ कुमार शनैः शनैः सोपान सिढीयों पर चढने लगा। द्वार मण्डप पर पहुँचा। उस उत्तम द्वार मण्डप की श्री-शोभा को देख सहसा वहीं स्थित हो गया-खडा हो गया ॥१६॥

यावन्तत्र जगत्सार शिल्पि कल्पित रूपके ।
दत्त दृष्टिरसौ तावद् दृष्टैका शालभञ्जिका ॥ १७ ॥

विस्मित कुमार क्रमशः उस मण्डप की एक-एक कलात्मक चित्रों को निर्निमेष दृष्टि से देखने लगा। शिल्पियों की कल्पना के रूपों के देखते देखते सहसा उसकी सरल निर्विकार दृष्टि एक अनुपम रूप राशि की पुत्तलिका-आकृति से जा टकरायी ॥ १७ ॥

तस्यादर्शन मात्रेण चित्तन्यस्त इव स्थितः ।
पपौ रूपामृतं चास्याः स्तिमितायत लोचनः ॥ १८ ॥

उस पर दृष्टि पडते ही वह मन्त्र मुग्ध सा अचल हो गया मानों उस प्रतिच्छाया को हृदय में प्रविष्ट कराना चाहता हो। वह मुस्कराता हुआ उसके रूपामृत का पान करने लगा ॥ १८ ॥

ततस्तस्य सकामस्य पतिता पादपद्मयोः ।
दृष्टिर्भृंगीव संसक्ता स्पन्दनेपि पराङ्मुखी ॥ १९ ॥

उसके चरणकमल मानों कामदेव से सेवित थे दृष्टि साक्षात मृगी के समान चञ्चल थी, उसे देखने वाला हिलने में भी समर्थ नहीं हो सकता ऐसा उसका लावण्य था। वह देखता रहा और सोचता रहा उसके प्रत्येक अवयव के अतुल राग रस भरे सौन्दर्य के विषय में ॥ १९ ॥

निधाय कलशेनेव नितम्बेन मनोभुवः ।
कटीतटं समाकृष्टा संप्राप्ता क्रम योगतः ॥ २० ॥

मन्दिर के द्वार मण्डप के पास पुत्तलिका–आकृति को निहारते हुए जिनदत्त

परम पूज्य श्री १०५ ग० आ० विजयामती माताजी एवं श्री १०५ आर्यिका ब्रह्ममती माताजी
क्षुल्लिका १०५ श्री जयप्रभा एवं विजयप्रभा के दीक्षा पर केश लुंचन करते हुए

अपने नितम्बों रूपी कलशों से इसने मानों साक्षात् कामदेव को ही धारण किया है। कटितट कमर के संयोग से कितनी आकर्षक है ॥२०॥

लावण्यनीरे सम्पूर्ण नाभिकुण्डे ममज्जसा।
मदनानल सन्ताप पीडितेव ततश्चिरम् ॥ २१ ॥

ओह इस की नाभि सरोवर में कितना शीतल जल भरा है, यह काम संताप से सन्तप्त जन को शान्ति प्रदान करने में सक्षम है। इस प्रकार चिन्तन करता हुआ वह कुमार मदनालन-कामदाह से पीडित हो उठा ॥ २१ ॥

तान् जहार ततस्तस्याः रोमराजिरनुत्तरा।
रूपातिशयतोऽयस्ता प्रशस्ति रिव शंभुना ॥ २२ ॥

अहा इसके रोमों की पंक्तियां गजब ढाह रही हैं। रूपराशि को द्विगुणित कर रही हैं। ऐसा प्रतीत होता मानों ब्रह्मा अनुत्तर रूप पट्ट पर प्रशस्ति ही लिखकर रक्खी है ॥ २२ ॥

प्राचकाम प्रयासेन प्रस्खलन्ती मुहुर्मुहुः।
मध्यमस्याः कृशोदर्या स्त्रिवलिभंग बन्धुरम् ॥ २३ ॥

देखो, इसकी चाल कितने आकर्षक रूप में प्रतिबिम्बित की गई है, प्रयास पूर्वक स्खलति होती हुयी बार-बार मन्द-मन्द गमन कर रही हो। उदर अत्यन्त कृश है, कटि सिंहवत् पतली है उदर की त्रिवली की कुटिलता सौन्दर्य का शृंगार है ॥ २३ ॥

स्तनान्तरे ततस्तस्याः सालीना समस्थल।
ययौ यया समस्तांगसंमोहं मुग्ध मानसः ॥ २४ ॥

स्तनों का मध्य स्थान अर्थात् वक्षस्थल विशाल और प्रशस्त है। समान रूप से सभी अङ्ग मन को मुग्ध करने वाले संमोहन मन्त्र है ॥२४॥

आललम्बे मनोहारी हारावलिमसौ शनैः।
कण्ठं हि यत्नतः प्राप रेखात्रितय सुन्दरम् ॥ २५ ॥

इधर यह अपने मनोहर त्रिवलि युक्त कण्ठ में धीरे से रमणीय हार-कण्ठमाला को धारण कर रही है। प्रयत्न पूर्वक हार फब कर बैठा है ॥ २५ ॥

प्रालम्बेव तत स्तस्या: सा बाहु लतिका क्रमात् ।
समस्त भुवनभ्रान्त श्रान्तानंग मृगाश्रयम् ।। २६ ।।

दोनों दीर्घ बाहू लता के समान लटक रहीं हैं, समस्त भुवन-लोक को भ्रान्ति उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ है । कामबाण से श्रमित कामीजनों के श्रम को अपनयन करने में एक मात्र आश्रय है ।। २६ ।।

रति कामपिसा लेमे लावण्यातिशयान्विते ।
मुखेन्दौ मदनाद्दाह दाह शान्त्यायनां यथा ।। २७ ।।

किसी भी प्रकार लावण्य के अतिशय से समन्वित होने से रति को प्राप्त किया है उसी प्रकार मुखरूपी चन्द्र पर मदनदाह को शान्त करने वाली अपूर्व शान्ति झलक रही है ।। २७ ।।

केशपाशे पुनस्तस्या: कामपाश इवापरे ।
बद्धामृगोच सात्यन्तंगन्तुमन्यत्र नाशकत् ।। २८ ।।

उसके केशपाश मानों काम जाल ही हैं इसके व्यामोह में बद्ध मन अन्यत्र जाने में समर्थ नहीं हो सकता है ।। २८ ।।

कान्ति लावण्य सद्रूप सौभाग्यातिशया इमे ।
प्रतिच्छन्देऽप्यहो यस्या: सा स्वयं ननु कीदृशी ।। २९ ।।

इसके चित्र में कान्ति, लावण्य श्रेष्ठ रूप, सौभाग्य, उत्तम चिन्ह इस प्रकार आकर्षक चित्रित हैं वह स्वयं तो न जाने कितनी अनुपम सुन्दरी होगी ।। २९ ।।

कदापिनैव संपन्नो विकारो मम चेतस: ।
एतस्या दर्शनात्क्वेयमवस्था मम वर्तते ।। ३० ।।

आज तक मेरे मन में कभी भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ आज इसके देखने मात्र से मेरी यह अवस्था हुई है अन्य की तो बात ही क्या ? ।। ३० ।।

किमिदं पूर्व सम्बन्ध प्रेम दुर्ललितं स्फुटम् ।
येन बाला ममैवेयमासेचनक दर्शना ।। ३१ ।।

वह विचारने लगा, क्या इसके साथ मेरा पूर्व भव का प्रेम सम्बन्ध

है जो आज प्रकट हुआ है। अन्यथा इसके दर्शन रूपी तिचन से मेरा मन क्यों आद्र हो आसक्त होता ? ॥ ३१ ॥

अथवा क्वापि कस्यापि पूर्वकर्म विपाकतः।
झटित्येव मनो याति नूनं तन्मयतामिव ॥ ३२ ॥

अथवा यही सत्य है, कोइ न कोई पूर्वभव के संचित कर्म का विपाक ही उदय आया है तभी तो शीघ्र ही मेरा जीवन तन्मय हो गया। अर्थात् अचानक ही मन इसमें अचल हो गया है ॥ ३२ ॥

यदीयं भवितातन्वि मूल प्रकृति वर्जिता।
न प्राणधारणोपायं तदा स्वस्य विलोकये ॥ ३३ ॥

वस्तुतः यह तन्वङ्गी साक्षात् न मिली तो मेरा जीवन दुर्वार है। इतना सातिशायि रूप क्या भला मूल-इसके जीवन बिना हो सकता है ? अर्थात् अवश्य ही कोई जीवित कलिका का यह प्रतिच्छन्द चित्र है ॥३३॥

नूनं सचेतनंवेयं कापि काम लतायथा।
चोरयामासनश्चित्तं चन्द्रास्या कथमन्यथा ॥ ३४ ॥

निश्चय से यही चेतना सहित सी प्रतीत हो रही है। अथवा किसी कामलता का रूप है। यदि ऐसा न होता तो किस प्रकार यह चन्द्रमुखी मेरे मन को चुराती ? अवश्य ही कोई अनुपम विद्या है यह ॥ ३४ ॥

अचेतने यतो रूपं शोभार्थंकिल केवलम्।
सम्बन्धेन बिना चेत्थं नानुराग विजृंभितम् ॥ ३५ ॥

मात्र शोभा के लिए चित्रित किया गया यह अचेतन चित्र इतना अनुराग उत्पन्न कर रहा है क्या यह बिना आधार के हो सकता है? नहीं अवश्य ही यह जीवन्त कलिका है तभी बिना सम्बन्ध के मुझे अनुरंजित कर रही है ॥ ३५ ॥

भुज्यते यदि संसारे सौख्यं विषय गोचरम्।
तदानन्दनिधानेन सार्द्धमेवं विधेन हि ॥ ३६ ॥

यदि संसार का सुख भोगना ही हो तो इसी के साथ भोगना सार्थक है अन्यथा विषय जन्य भोगों से कोई प्रयोजन नहीं है। अन्यत्र भोगानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ३६ ॥

यद्येतयासमं नैवभुङ्क्ते भोगाननारतम् ।
हिम म्लानाम्बुजे नेव यौवनेनापि किं मम ॥ ३७ ॥

इस प्रकार कामोद्दीप से आतुर कुमार का मन उसमें अडिग हो गया । वह पुन: विचारने लगा, इस अनिद्य सौन्दर्य का अनारत भोग नहीं किया तो मेरे यौवन का क्या प्रयोजन है ? इस रूप राशि के साथ अहर्निश भोग करने से ही मेरा यौवन सफल है अन्यथा निस्सार जीवन है । इसके बिना मेरा जीवन हिम-तुषार से म्लान कमल की भाँति व्यर्थ है । निष्प्रयोजनीय है ॥ ३७ ॥

करे करोति किं चापमस्यां सत्यां मनोभुव: ।
इयमेव यतो विश्व वशीकरण सन्मणि: ॥ ३८ ॥

धनुष बाण हाथ में धारण करने का क्या प्रयोजन यह स्वयं कामदेव स्वरूप है । यह एक मात्र विश्व को वशी करने में सम्यक् मणि के समान है । अन्यत्र क्या ? ॥ ३८ ॥

एवं विधायत: सन्ति संसारे रति भूमय: ।
विरज्यते ततो नातोज्ञात तत्त्वैरपि ध्रुवम् ॥ ३९ ॥

यद्यपि कुमार पूर्ण तत्त्वों के ज्ञाता स्वरूप है तो भी इस ससार भूमि की रति के प्रवाहरूप प्रेम से अपने को विरक्त करने में समर्थ नहीं हुआ । निश्चयत: तत्त्वज्ञ भी विषयासक्त हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

रुद्राद्योप्यहो यासां दृष्टिपातोप जीविन: ।
मादृशां स्मर मुग्धानां मोहनेतासु का कथा ॥ ४० ॥

वह सोचने लगा, इसके सौन्दर्य से रुद्रादि भी दृष्टिपात मात्र से काम मुग्ध हो गये तो हमारे जैसे स्मर मुग्धों की उसमें क्या कथा है ? ॥ ४० ॥

प्रविशामि किमङ्गानि किं स्पृशामि पिबामि किं ।
नेत्र पात्रै रिमामाशु सौन्दर्यामृत वापिकाम् ॥ ४१ ॥

हा ! इस सौन्दर्य अमृत की वापिका में किस प्रकार मैं प्रवेश करूँ इसके सुकोमल अङ्गों का स्पर्श किस तरह हो, नेत्रों रूपी पात्रों से शीघ्र ही पीना चाहता हूँ ॥ ४१ ॥

इत्याद्यनेक संकल्प कारिणः सहचारिणा ।
विज्ञातं मकरंदेन दृष्ट्या तस्य मनोगतम् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार अनेकों संकल्पों में निमग्न कुमार की चेष्टा ज्ञात कर उसके सहचर ने ताड़ लिया। उसकी दृष्टि से उसके मनोगत भावों को जानकर उसे अत्यन्त प्रसन्नता हुयी। क्योंकि कुटुम्बीजन तो यही चाहते थे ॥ ४२ ॥

विबद्धश्च चिरादेते फलिता मे मनोरथाः ।
सिक्तश्चायं सुधासेकैः श्रेष्ठि संतान पादपः ॥ ४३ ॥

वह मित्र सोचता है, कि, चिरकाल के बाद मेरे मनोरथ फलित हुए हैं। यह श्रेष्ठि पुत्ररूपी पादप-वृक्ष आज प्रेमामृत सीकरों से अभिसिंचित हुआ प्रतीत हो रहा है ॥ ४३ ॥

स्मित्वा स्वैरमुवाचेमे तथैव सखे मनः ।
किं हृतं भवतो येन स्तम्भितो वा व्यवस्थितः ॥ ४४ ॥

आनन्द से गद्‌गद् हो वह कहने लगा, कुमार, आप हँसकर अपने भावों को स्वच्छंदता पूर्वक बतलाओ–कहो, हे सखे किसने आपके मन को हरा हैं जिससे कि इस प्रकार आप स्तम्भित हो गये व खड़े रह गये ? ॥ ४४ ॥

भवानेव विजानातीत्युक्त्वादाय करेण तं ।
स विवेश जिनाधीश मन्दिरं तद् गताशयः ॥ ४५ ॥

"आप ही जानते हैं" क्या हुआ, इस प्रकार उत्तर देकर उसको हाथ से पकड़ कर, कुमार उस कन्यारूप में आसक्त हुआ जिनालय में प्रविष्ट हुआ ॥ ४५ ॥

ततः प्रदक्षिणी कृत्य स्तुत्वा स्तोत्रै रनेकशः ।
जिनां जगाम तां पश्यन्नाकुण्ठो क्रममालयं ॥ ४६ ॥

सावधान हो कुमार ने जिनालय में श्री जिनेन्द्र प्रभु की भक्ति से प्रदक्षिणा कर नाना प्रकार सुन्दर स्तोत्रों से स्तुति की। तदनन्तर नमस्कार कर अपने घर को लौटने लगा, बार-बार उस चित्राम के लिए देखता हुआ घर आया ॥ ४६ ॥

स्थितस्तत्र समुद्भूत तीव्र वेग स्मर ज्वरः ।
स तल्पे कल्पिता नल्प पद्म पल्लव संस्तरे ॥ ४७ ॥

नाशनाय भवत्तस्य नो शय्या सह निद्रया ।
विनोदेन न केनापि स रेमे तां तदा स्मरन् ॥ ४८ ॥

गृह में स्थित होते ही काम ज्वर तीव्रता से उग्र होने लगा। अनेक कमल पत्रों से शीतल शय्या उसे तैयार की गई अर्थात् काम वेग ज्वर की शान्ति के लिये पद्मपल्लव तल्प शैय्या भी समर्थ नहीं हुई। निद्रा ने मानों रूठ कर उसका साथ छोड़ दिया वह विनोद से भी किसी के साथ हास-विलास करने में समर्थ नहीं हुआ। उसी का चिन्तन करने लगा ॥ ४७—४८ ॥

जलार्द्र श्चन्दन श्चन्द्रः कर्पूरः शिशिरंपयः ।
ज्वलित कामानलस्यास्य संजाता घृत विप्लुषः ॥ ४९ ॥

मलयागिर चन्दन मिश्रित शीतल-जल, चन्द्र रश्मियाँ, कपूर लेपन, बर्फ का पानी आदि पदार्थ इस कामदाह से ज्वलित कुमार को कामाग्नि जलाने में घी का काम करने लगे। अर्थात् जितना शीतोपचार किया जाता उतना ही उसका काम ज्वर अधिक होता जाता ॥ ४९ ॥

वरं मरण मेवास्तु मा वियोगः प्रियैः सह ।
समाप्यन्ते समस्तानि येन दुःखानि सर्वतः ॥ ५० ॥

वह विचारने लगा, उस कामिनी के वियोग की अपेक्षा मरण ही मेरे लिए श्रेयस्कर है। क्योंकि प्रियजनों के वियोग से उत्पन्न समस्त दुःख मरण से ही समाप्त हो जाते हैं ॥ ५० ॥

अदृष्टापि मनो मोहं या ममेत्थं ततान तां ।
पुष्पेशो कुरुषे किं न शरसं हृति जर्जराम् ॥ ५१ ॥

इत्यादिकं जजल्पा सा वसं बन्धं प्रबन्धतः ।
एकयापि तया मेने व्याप्तामिव जगत्रयीम् ॥ ५२ ॥

अदृष्ट भी वह इस प्रकार मुझे संताप दे रही है, जर्जरित कमलो को सरोवर में सूर्यास्त होने पर क्या नष्ट नहीं करता? करता ही है। इत्यादि प्रकार से वह उस सुन्दरी के वस हुआ नाना प्रकार प्रलाप करने

क्षण। उसे लगता मानों वह तीनों लोकों में व्याप्त है अर्थात् हर क्षण प्रत्येक ओर उसे वही सुन्दरी दिखलायी पड़ती ॥ ५१–५२ ॥

जिगासा ततस्तदा तस्य पञ्चमेन निवारिता।
हुंकाराः सन्ततश्वासैः अम्लानाधर पल्लवैः ॥ ५३ ॥

समग्र गुण सम्पूर्णं कर्णं शूल करं परम्।
गीतं तेन तदा मेने मनोज्ञं ज्वार वोपमम् ॥ ५४ ॥

अब उस काम द्वारा वह हुंकार भरता, सतत दीर्घ श्वासों से उसके अधर पल्लव सूख गये—म्लान हो गये। उसे गुण पूर्ण मधुर संगीत कर्णशूल के समान प्रतीत होते। वह कामदेव से उत्पन्न है उसी का स्वर यथार्थ स्वर है वही सुनना चाहिए। शेष सब कर्णों को कष्टदायी ही हैं ॥ ५३–५४ ॥

किञ्च प्रसार यामास भूयो भूयो भुजद्वयं।
आलिङ्गितु मिव व्योम्न भूमि माशा स्तथैव च ॥ ५५ ॥

कुमार की चेष्टा उग्रतर विपरीत होने लगी, वह शनैः शनैः बार-बार अपनी भुजाओं को फैलाता, कभी आकाश को आलिङ्गित करना चाहता तो कभी भूमि को और कभी दिशाओं को। अभिप्राय यह है कि उसे चारों ओर, ऊपर-नीचे सर्वत्र वही रूप सुन्दरी प्रतीत होती और वह उसी छाया के पीछे दौड़ने को आतुर हो उठता ॥ ५५ ॥

मूर्च्छा प्रलाप वैवर्ण्य स्वेद रोमाञ्चकंपितं।
तस्यासीत् सततं गात्रं सन्निपात ज्वराचिव ॥ ५६ ॥

उसे रह-रहकर मूर्च्छा आ घेरती, मनमाना प्रलाप करता, मुख कान्ति क्षीण हो गयी—पसीना छूटने लगा, शरीर रोमाञ्चित होने लगा, काँपने भी लगा वपु, जिस प्रकार सन्निपात ज्वर (त्रिदोष से उत्पन्न ज्वर) के कारण आदमी हिता-हित विवेक शून्य, ज्ञान हीन होकर यद्वा-तद्वा आचरण करने लगता है उसी प्रकार उस कुमार की दशा हो गयी ॥ ५६ ॥

इत्यालोक्य ततस्तस्य सुहृदः स्मर संभाषाम्।
दशामावेदयामासु राज्ञु तातस्य तत्परा: ॥ ५७ ॥

इस प्रकार कुमार को काम के बाणों से विद्ध और उसके दशों अवस्थाओं को देखकर उसके मित्र ने उसे कामासक्त जाना। शीघ्र ही उसके पिता के पास जाकर सकल वृतान्त कह सुनाया ॥ ५७ ॥

यावन्मानधनो द्यापि न याति दशमी मयम् ।
दशां कन्तो कुमारस्य कुरु तावत् समीहितम् ॥ ५८ ॥

मित्र कहने लगा, हे मान्यवर ! आपके पुत्र की दयनीय दशा है। वह काम वेदना से अत्यन्त पीडित हो चुका है इसकी दसमी दशा जब तक प्राण घातक न हो उसके पूर्व ही शीघ्र उपाय करना चाहिए। हे मानधन ! शीघ्र ही उसके समीहित की सिद्धि करिये। अन्यथा मरण ही है ॥ ५८ ॥

उक्तं तं समाकर्ण्य रोमाञ्च कवचाञ्चित: ।
सञ्जहास शनै मास्तं पश्यं स्तेषां मुहुर्मुहु: ॥ ५९ ॥

मित्रों की वार्ता सुन सेठ हर्ष से झूम उठा, शरीर रोमाञ्चितहो गया, उसका मुख मण्डल हास्यमय हो गया और उन्हें वह बार-बार देखनेलगा ॥ ५९ ॥

कुण्ठी भवन्त्यहो यस्य चेतसो वज्र सूचय: ।
तस्यापि भेदने शक्ता: कटाक्षा: किल योषिताम् ॥ ६० ॥

वह विचारने लगा अहो। जिसके चित्त को भेदन करने में वज्र सूचि भी भौंथरी हो गई, उसी के मन को योषिता कटाक्षों ने भेदित कर डाला ॥ ६० ॥

संचिन्त्येति ततस्तांश्च ताम्बूलाम्बर भूषणै: ।
संविभज्य जगामासौ यत्रास्ते देहसंभव: ॥ ६१ ॥

इस प्रकार विचार कर और सूचित करने वाले जनों को ताम्बूल, वस्त्र एवं आभूषणादि प्रदान कर वह अपने पुत्र के पास गया ॥ ६१ ॥

तं विलोक्य तथा भूतं श्रेष्ठिनेति विचिन्तितम् ।
दु: साध्या कार्य संसिद्धि: कुमार: पुनरीदृश: ॥ ६२ ॥

पुत्र की दयनीय एवं अत्यन्त क्षीण दशा को देखकर वह चिन्तित

हो गया, विचारने लगा इसकी कार्य सिद्धि अत्यन्त दुःसाध्य है, कुमार की दशा भी इस प्रकार की हो चुकी है ॥ ६२ ॥

विधेर्वशेन नो जाने कार्यं स्यादिह कीदृशम् ।
तथाप्याश्वा सयामीति सं जगाद सुतं ततः ॥ ६३ ॥

विधाता ही जाने इसका कार्य किस प्रकार का होगा, न जाने साध्य है या असाध्य, जो हो इस समय इसे आश्वासन ही देना उचित है। विश्वास दिलाता हूँ। इस प्रकार मन में विमृश्य, वह पुत्र से कहने लगा ॥ ६३ ॥

मुञ्च खेदं महाबुद्धे मानसं सकला: क्रिया: ।
कुरु स्नानादिका: शीघ्रं पूरयेतव वाञ्छितम् ॥ ६४ ॥

हे महा भाग ! खेद का परित्याग करो, प्रसन्न हो अपनी स्नानादि समस्त क्रियाओं को यथा विधि करो, हे मनोहर ! शीघ्र तुम्हारे मनोवाञ्छित कार्य को पूरा करूंगा ॥ ६४ ॥

यदीह राज कन्यापि खेचरी वापि सुन्दरी ।
उत्संग सङ्गता पुत्र करिष्यामि तथाऽपि ते ॥ ६५ ॥

जिस पर तुम्हारा मन मुग्ध हुआ है वह राजकन्या हो, अथवा विद्याधर कन्या रहे या अन्य सुन्दरी कन्या हो, हे प्रिय, शीघ्र ही मैं तुम्हारा उसके साथ सङ्गम कराऊँगा। अर्थात् विधिवत् आगमानुकूल विवाह कराऊँगा ॥ ६५ ॥

कार्यान्तरं परित्यज्य तथा वत्स विधास्यते ।
मया यत्नो यथा तथ्यो निष्पत्यैव भविष्यति ॥ ६६ ॥

हे पुत्र ! अन्य समस्त कार्यों का त्याग कर प्रथम वह कार्य करूंगा जिससे तुम्हारे मनोरथ की सिद्धि होगी ॥ ६६ ॥

समाश्वास्येति तं श्रेष्ठी स जगाम तदालयम् ।
तां विलोक्य ततस्तेन विस्मितेन धूतं शिर: ॥ ६७ ॥

इस प्रकार पुत्र को आश्वासन देकर तथा कहाँ उसका मन अड़ा है यह वृतान्त ज्ञात कर श्रेष्ठी आनन्द से जिनालय में गया और उस

साक्षात् रति स्वरूप चित्रिता को देख आश्चर्य से सिर हिलाने लगा। विस्मय से वह हतप्रभ सा हो गया और विचारने लगा ॥ ६७ ॥

> विश्वकान्तितिरस्कारि अङ्गिर रूपं विश्व विमोहकम् ।
> लज्जाकरमिदं चास्य लावण्यं विश्व योषिताम् ॥ ६८ ॥

विश्व की कान्ति को तिरस्कृत करने वाली इसकी सौम्य कान्ति है, विश्व-संसार मोहक रूप राशि है, अतिशय लज्जापूर्ण मनोहर मुख है, समस्त लोक की ललनाओं का लावण्य स्वरूप है यह ॥ ६८ ॥

> प्रति बिम्बमिदं यस्या सास्ति काचन सुन्दरी ।
> अदृष्टमीदृशं रूपं निर्मातुं न हि शक्यते ॥ ६९ ॥

इसका प्रतिबिम्ब इतना मोहक एवं आकर्षक है तो साक्षात् कितनी मनोहर न होगी ? इस प्रकार का रूप अदृष्ट निर्मित नहीं हो सकता। अर्थात् मात्र काल्पनिक आकृति इस प्रकार उत्कीर्ण नहीं की जा सकती। अवश्य ही कोई सुन्दरी कन्या होना चाहिए ॥ ६९ ॥

> युक्तं यदत्र पुत्रस्य मनोलीनम जायत ।
> यदस्या दर्शनात्तेऽपि नूनं मुह्यन्ति नाकिनः ॥ ७० ॥

मेरे पुत्र का मन इसमें लीन हुआ है यह युक्ति-युक्त ही है। क्योंकि इसके देखने मात्र से मनुष्य क्या देव भी मुग्ध हो जायेंगे। अर्थात् देवों का मन भी चुराने वाली है यह ॥ ७० ॥

> एवं विधेऽपि यच्चित्रं नानुराग भरालसम् ।
> समग्र रस शून्यात्मा नरः पाषाण एव सः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार का समस्त रसों का सामंजस्य अद्भुत चित्र देख कर यदि किसी मनुष्य का चित्त द्रवित नहीं हो तो वह मनुष्य नहीं शून्यात्मा पाषाण ही है ॥ ७१ ॥

> संभाव्येति समाहूत स्तेनाऽसौ येन शिल्पिना ।
> कृता सा सोऽपि संपृष्टः केयं क्वास्ते च कीदृशी ॥ ७२ ॥

इस प्रकार नाना तर्कों से विमृश्य-विचार कर उस सेठ ने इस चित्र को चित्रित करने वाले शिल्पी को बुलवाया तथा "यह कन्या कौन है ? कहाँ है और कैसी है" प्रश्न पूछे ॥ ७२ ॥

तैनाभाणि महाभाग चम्पायां विमलात्मनः।
श्रेष्ठिनो विमला स्येयं विमलादि मतिः सुता ॥ ७३ ॥

प्रश्नानुसार उस चित्रकार ने सरल, स्पष्ट, यथार्थ परिचय देते हुए कहा, महाभाग ! यह चम्पानगरी के धर्मात्मा-पुण्यात्मा; निर्मलात्मा श्रेष्ठी की सेठानी विमला से उत्पन्न "विमलामती" नाम की कन्या है। पुत्री है ॥ ७३ ॥

वेणी मलय विसृस्ता पुष्प भ्राम्यन् मधुवृता।
कपोल फलकोद्भुत स्वेद बिन्दु चितानना ॥ ७४ ॥

इसकी नागिन सी वेणी विस्तृत पुष्पमालाओं से गूंथी गई है जिस पर मधुकर समूह मंडरा रहे हैं। कपोलों पर ढलकते स्वेद बिन्दु अद्भुत रूप से अंकित हैं। इससे आनन-मुख अत्यन्त शोभायमान है ॥ ७४ ॥

चेलाञ्चलं तथा चारु हारावलिम सौ शनैः।
संयम्य सर्वतो बद्ध लक्षा मण्डल चारिणी ॥ ७५ ॥

इसके वस्त्र का अंचल चंचल हो रहा है। सुन्दर हार धारण की है, शनैः शनैः चारों ओर से अपने को संयमित कर अपने निर्दिष्ट कार्य की ओर सखियों सहित गमन करती हुयी चित्रित हुयी है ॥ ७५ ॥

कन्यका कमनीयोगी क्रीडन्ति कन्दुकेन सा।
समं सखीभि रालोकि विस्मितेन मया चिरम् ॥ ७६ ॥

यह अत्यन्त कमनीय कन्या गेंद से अपनी सखियों के साथ खेल रही थी। उस समय मैंने बड़े आश्चर्य से उसे चिर काल तक निहारा ॥ ७६ ॥

आगत्येदं ततः साधो मत्वात्यन्तं मनोहरम्।
अत्र तद्रूप माकल्पि शतांशापिन किञ्चन ॥ ७७ ॥

तत्पश्चात् यहाँ आकर, हे साधो ! यह चित्र मैंने अङ्कित किया है वस्तुतः यह तो उसका शतांशवां भाग भी नहीं है। उसका यथार्थ रूप लावण्य अनुपम है ॥ ७७ ॥

ततो वितीर्य्य हृष्टात्मा सा तस्मै पारितोषिकम्।
जिनदत्त प्रतिच्छन्नं लेखयामास तत् पटे ॥ ७८ ॥

इस प्रकार कलाकार ने परिचय दिया। जिसे सुनकर सेठ को संतोष हुआ। तथा उस कलाकार को समयोचित पारितोषिक भी दिया एवं इसी प्रकार का सुन्दर चित्र जिनदत्त कुमार का तैयार करो ऐसा आदेश देकर विदा किया ॥ ७८ ॥

तं समर्थं ततस्तत्र प्रेषिता वरणाय ताम्।
पटिष्टाः श्रेष्ठिना वस्तुं चम्पायां नर सत्तमाः ॥ ७९ ॥

चित्र तैयार हो गया। जिनदत्त का चित्रपट लेकर एक सुयोग्य व्यक्ति को चम्पानगरी में भेजा। तथा कन्या का अपने पुत्र के साथ वरण करने का संदेश दिया ॥ ७९ ॥

तैर्गत्वा दर्शितो लेखः श्रेष्ठिनः स पटस्तथा।
सेने तेनाऽपि संसिद्ध तद् दृष्ट्वाशु समीहितम् ॥ ८० ॥

उधर चम्पानगरी में वह बुद्धिमान द्रुतगति से जा पहुंचा एवं श्रेष्ठी से चित्रपट के साथ जीवदेव का वृतान्त भी कह सुनाया। अर्थात् "वणिक् शिरोमणि जीवदेव अपने सुपुत्र जिनदत्त के साथ आपकी विमला कन्या का विवाह मंगल करना चाहते हैं" यह शुभ संदेश सुनाया। इस अतर्कित समाचार को सुनकर विमलचन्द्र श्रेष्ठी मन ही मन फूला न समाया। पट देखा, पत्र पढ़ा और अपने समीहित-इच्छित कार्य की संसिद्धि ज्ञात कर परमानन्द को प्राप्त हुआ ॥ ८० ॥

दस्वास्मै कन्यकामेतां कृत कृत्यो भवाम्यहम्।
सभाव्येति चकारैषां गौरवं गुण सागरः ॥ ८१ ॥

तातो पान्त गता साऽपि तमद्राक्षीत् पटं सुता।
दर्शनादेव चास्याभूत् मनोभू शर शल्लिता ॥ ८२ ॥

वह विचारने लगा, इसको कन्या प्रदान कर मैं कृत कृत्य हो जाऊँगा। वस्तुतः मेरी कन्या के योग्य ही यह वर है। गुणसागर और गौरव की राशि स्वरूप है। इन विचारों से युक्त सेठ विराजमान था उसी समय वह कन्यारत्न वहाँ आयी। पिता के कर कमलों में स्थित उस चित्रपट के दृष्टिगत होते ही वह हतप्रभ हो गई। काम बाण से विद्ध हो अलक्ष्य रूप को निहारने लगी ॥ ८१–८२ ॥

सङ्क्रान्त मिव तद्रूपं तदा तस्या हृदि ध्रुवम् ।
यत्तस्य दर्शनात्सापि समभून्निश्चला स्थिता ।। ८३ ।।

निश्चय ही वह पटस्थ रूपाभा उसके हृदय में संक्रान्त कर गई क्योंकि उसके दर्शन मात्र से ही वह निश्चल खड़ी रह गयी ।। ८३ ।।

सखी वसन्त लेखास्या जग्राहाञ्चलमुत्सुका ।
अन्तरेण तथा सापि हुं कुर्वन्त्येव निवारिता ।। ८४ ।।

उसी समय उसकी सखी वसंत लेखा ने उसका आंचल खींच कर उसे सावधान किया और 'हुँ' कह कर उसे निवारित किया ।। ८४ ।।

सा ववर्श यथा लब्ध लक्षं शून्यं जहास च ।
अस्फुटार्थं जजल्पात स्तातेना ज्ञायो तन्मनः ।। ८५ ।।

उस कन्या को लक्ष्य विद्ध, संज्ञाशून्य, अस्पष्टालाप आदि चेष्टाओं से उस चित्र पट पर मुग्ध हुयी ज्ञात कर पिता ने उसके मनोनुकूल कार्य करने का निश्चय किया ।। ८५ ।।

आलोच्य बन्धुभिः सार्द्धं कार्य मार्यं मनोचितम् ।
संविभक्ता गतास्तेपि सलेखाः श्रेष्ठिना ततः ।। ८६ ।।

लोक व्यवहार कुशल विमल श्रेष्ठी ने अपने बन्धुवर्ग, मित्र जन एवं अन्य सम्बन्धी जनों को समन्वित कर इस (विवाह) सम्बन्ध में विचार विमर्श किया। यही आर्य जनों की पद्धति है—कुल धर्म की रक्षा करते हुए कार्य करें। सभी का अनुमोदन प्राप्त कर उसने सुन्दर पत्र के साथ उस चित्रपट वाहक को विदा किया। अर्थात् हम अपनी परम सुन्दरी कन्या को आप श्री के पुत्ररत्न को प्रदान करने में सहर्ष तैयार हैं ।।८६।।

साथ ही कुछ अपने लोगों को समाचार के साथ भेजा। अनङ्गदेश के वसंत तिलक इस नगर में आकर उन्होंने अपना वृत्तान्त जिनदत्त के पिता को कह सुनाया एवं पत्र-लेख भी अर्पण किया। चिन्तित मनोकामना फलित होने पर किसे हर्ष नहीं होता ? अपनी कार्य सिद्धि में कौन आनन्दानुभव नहीं करता ? सभी करते हैं।

लेखार्थ मथ निश्चित्य जिनदत्तपिता स्वयम् ।
कृत्वा यथोचितां तत्र सामग्रीं प्राहिणोत्सुतम् ।। ८७ ।।

लेख-पत्र द्वारा स्वीकृति पाते ही सेठ ने चम्पानगरी की ओर प्रस्थान करने का निर्णय लिया। विवाहोत्सव के अनुकूल समस्त सामग्री संचय की। बन्धु-बांधवों को आमन्त्रित कर समन्वित किया। साज-बाज के साथ पुत्र को लेकर चल दिये ॥ ८७ ॥

प्राप्ताः सोऽपि ततश्चम्पा मकम्पां रिपुसंहतेः।
तर्जयन्तीं ध्वज प्रातैः पुरन्दर पुरोमिव ॥ ८८ ॥

अविलम्ब जहाज चम्पा नगरी के तट पर जा पहुँचे। वह शोभिनीय चम्पापुरी शत्रुगण रहित अकम्पसी प्रतीत हो रही थी। फहराती ध्वजाओं का समूह मानों रिपुगणों को तर्जना कर रहा था। वह अमर-पुरी के समान प्रतीत होती थी ॥ ८८ ॥

तदुद्याने स्थितस्तेन विहितोचित सत् क्रियाः।
तत्काल मंगलारम्भ व्यधा शेष परिग्रहः ॥ ८९ ॥

चम्पा के उद्यान में डेरा लगाया। वहीं सम्पूर्ण क्रिया-कलापों का प्रारम्भ किया। विवाह के योग्य समस्त विधि-विधान की तैयारी कर शीघ्र ही मङ्गल कार्य आरम्भ किया गया। समस्त जन इस उत्तम वर-वधु संयोग की प्रतीक्षा में व्याकुल हो रहे थे ॥ ८९ ॥

जाते च समये तत्र समुत्सव शताञ्चिते।
संस्नात कल्पिताभव्य माल्यांबर विभूषणः ॥ ९० ॥

तत्काल सैंकडों उत्सव प्रारम्भ हो गये, स्नान मङ्गल, वस्त्रालंकार मण्डन मङ्गल, मालारोपण आदि, ताम्बूल प्रदानादि क्रियाएँ होने लगीं ॥ ९० ॥

गीत नृत्य समासक्ता नन्त सीमन्तनी जनः।
चतुर्विध महावाद्य बधिरी कृत दिङ्मुखः ॥ ९१ ॥

सौभाग्यवती स्त्रियाँ गीत नृत्य, वादित्र, संगीत आदि करने लगीं। तत, वितत्, शिषिर, घन चार प्रकार के वादित्रों से दशों दिशाएँ बधिर सी हो गई-गूंजने लगी ॥ ९१ ॥

चारु पौराङ्गना नेत्र शतपत्र दलाञ्चितः।
सीमामाथ जनां स्तम्वन् कृत कृत्याम् समन्ततः ॥ ९२ ॥

तत्कालोचित यानेन वयस्यैः सहितो मुदा।
प्रवृत्तः प्रेम संभारः भारिसो वल्लभा भमि ॥ ९३ ॥

कमल नयनी सैंकड़ों पुरस्त्रियाँ धूम-धाम से अपने-अपने कार्य में संलग्न थीं। दीन अनाथों को मनोवाञ्छित दान देकर उन्हें कृतकृत्य किया गया। चारों ओर मधुर वातावरण छा गया। उसी समय कुमार विवाह योग्य पालकी में सवार अपने समवयस्कों के साथ आनन्द से प्रेम संभार से भरा प्रिया मिलन की आशा में डूब गया ॥ ९२–९३ ॥

यथा क्रमं कृता शेषं विवाह विधि मङ्गला।
तथासौ वीक्षिता तेन पताकेव मनोभुवः ॥ ९४ ॥

यथाक्रम से गृहस्थ धर्मानुसार समस्त विवाह-पाणिग्रहणसंस्कारादि क्रियाएं समाप्त हुयीं, उसी समय कुमार ने उस साक्षात् कामदेव स्वरूप कमनीय कान्ता का अवलोकन किया। वस्तुतः वह साक्षात् कामदेव की पताका ही थी ॥ ९४ ॥

तद्दर्शनाम्भसासिक्त स्तथास्य प्रेम पादपः।
ववृधे शत शाखां स यथा मात्र मभो वनौ ॥ ९५ ॥

उसी समय उसे लगा मानों इस सुन्दरी के दर्शन रूपी जल से उसका प्रेम रूपी पादप-वृक्ष अभिसिंचित हो गया। उसके मन रूप क्षेत्र में सैंकड़ों मनोरथ रूपी शाखाओं से बढ़ गया जिस प्रकार वन में वट वृक्ष वृद्धिगत होता है ॥ ९५ ॥

चित्त भूरिति मिथ्यासि द्रढा रेषा सवास्मरे।
यत्तदा लोकनात्स्य सर्वाङ्गेभ्यः समुदययौ ॥ ९६ ॥

उसकी चित्त भूमि में यह दृढ़ हो गई, कामदेव अचल हो गया और उसने भूमिपने को मिथ्या कर दिया क्योंकि भूमि कोमल होती है पर इसके मन में वह कठोर हो गई जिस समय उसके सर्व अङ्गों का निरीक्षण किया इसका सर्वाङ्ग स्मर पीड़ा से आद्र हो गया ॥ ९६ ॥

यतो यतस्तदंगेषु चक्षुः क्षिप्तं समुत्सुकम्।
ततस्ततः समाकृष्टं चापेनापि मनोभुवः ॥ ९७ ॥

क्यों कि कुमारी के जिस-जिस अङ्ग पर इसकी दृष्टि जाती वहीं

वहीं से कामदेव बाण द्वारा आकर्षित करली जाती। अर्थात् जिस जिस अङ्ग का अवलोकन करता अपलक नयन मधुकर वहीं प्रेमरस में मत्त हो जाते ॥ ९७ ॥

> कारयामास चंतस्याः पुरोधा पाणि पीडनम्।
> सलज्जा लिखदेषाऽपि पादाङ्गुष्ठेन भूतलम् ॥ ९८ ॥

इसी समय विवाह विधि कारक पुरोहित ने "पाणि पीडन" क्रिया की अर्थात् कन्या का हाथ वर के हाथ में दिया। उस समय वह कन्या लज्जाभार से नम्रीभूत हो अपने पैर के अंगूठे से जमीन कुरचने लगी। ठीक ही है श्रेष्ठ कुल ललनाओं का लज्जा और विनय ही आभूषण है। उस समय लगता था मानों अंगूठे से कुछ लिख ही रही हो ॥ ९८ ॥

> आलसे मन्दे मुग्धे स्निग्धे सहज विभ्रमे।
> गाढोत्कण्ठे सलज्जे चान्तराले वलिते तदा ॥ ९९ ॥

> भ्रमितन्मुखयो र्मध्यं चक्षु स्तद्विलोचने।
> शङ्केसि सा सितानेक नीलोत्पल दलाकुलम् ॥१००॥

आलस्यमें, मद, प्रमोद, स्नेह एवं स्वाभाविक विभ्रम में वे वर-वधू डूबे थे, गाढालिङ्गण में सलज्जा वेदी-विवाह मण्डप में शोभित हो रहे थे। भूमि पर उनके मुखाम्बुज पर चञ्चल नयनों की रमणीय छटा से प्रतीत होता था कि अनेकों नील कमलों के दल ही हों ॥ ९९-१०० ॥

> सार्द्धं तया ततस्तत्र परीयाय हुताशनं।
> संगमाविरह होम्भूत सन्तापं या बहिः स्थितम् ॥ १०१ ॥

उस मनोहरी के साथ पाणिग्रहण करने के लिए वह अग्नि के चारों ओर घूमने लगा। अग्नि शिखा के संताप से ऐसा प्रतीत होता था कि मानों संगम के विरह का संताप ही बाहिर आकर स्थित हो गया है। अभिप्राय यह है कि थोडा भी विलम्ब असह्य था ॥ १०१ ॥

> जुहूतस्तस्य तत्राभू ल्लाजा शब्दोग्नि योगजः।
> आनेहं योग्य सम्बन्धात् साधुकारं शिखि ददौ ॥ १०२ ॥

पिरोहित द्वारा लाजा-धान की खील हवन में डाली जा रही थीं। अग्नि के संयोग से उनमें से चट-पट शब्द निकल रहे थे वे ऐसे प्रतीत

जिनदत्त का विमला सती के साथ पाणिग्रहण संस्कार ।

होते थे मानों यह "रति-कामदेव के समान योग्य सम्बन्ध है" इस प्रकार अग्नि साधुवाद-आशीर्वाद ही दे रही है। मैं (आचार्य) समझता हूं कि धर्म विधिपूर्वक योग्य वर-वधू होने से अग्नि भी उनका यश गान कर रही है ॥ १०२ ॥

धूमवान क्षणोऽभूता स्ते तयो र्बास्प बिन्दवः।
निर्गता वा मनोमान्तः करणाः प्रेम रसोऽब्धयाः ॥ १०३ ॥

होम की धूम से उनके नयनों से अश्रु बिन्दु झलकने लगे। वे ऐसे प्रतीत होते थे मानों उनके अन्तःकरण का प्रेमरस उमड़ पड़ा हो ॥१०३॥

तदासौ मौक्तिकोद्दाम माला संकुल तोरणाम्।
तयामावेदिकां प्राप्य भद्रासन उपाविशत् ॥ १०४ ॥

तदनन्तर वे, मोतियों की मालाएं जहाँ तोरण द्वारों में लटक रही हैं ऐसे सुन्दर मण्डप के वेदी में प्रविष्ट हो सपत्नीक भद्रासन पर विराजमान हुआ। अर्थात् सुन्दर-शुभ आसनारूढ़ हुआ ॥ १०४ ॥

धान्यक्षतानि नार्योर्यैः ददिरे मस्तके तयोः।
कुसुमानीवसौभाग्य मञ्जर्या स्तानि रेजिरे ॥ १०५ ॥

सौभाग्यवती सीमन्तिनियों के द्वारा तथा सत्पुरुषों द्वारा सुन्दर सुवासित अक्षत उन दोनों के मस्तक पर क्षेपण किये गये, वे भूमि पर कुसुम की मञ्जरियों की भाँति शोभा को प्राप्त हो रहे थे। मानों इनकी सौभाग्य सम्पत्ति बिखर रही हो ॥ १०५ ॥

गीत नृत्यादिकं तत्र प्रारब्धं प्रमदा जनैः।
पश्यन्तौ यावदानन्द धार्धमग्नौ स्थितौ तदा ॥ १०६ ॥

उत्तम प्रमदाओं—सुभासिनी नारियों द्वारा नाना प्रकार के गीत एवं नृत्यादि प्रस्तुत किये जा रहे थे। उस मिथुन को देखने मानों आनन्द सागर ही उमड़ पड़ा हो ऐसा प्रतीत होता था ॥ १०६ ॥

निशा विलास संपर्को जायतामेतयोरिह।
इतीव मन्य मानेन भानुना स्ताद्रि राश्रितः ॥ १०७ ॥

शनैः शनैः भानुराज अस्ताचल की ओर प्रस्थान करने लगे, मानों

इन दम्पत्ति के प्रेम मिलन की बेला आ रही है—विलास काल शीघ्र आना चाहता है यही सोचकर मानों रवि छिपना चाहता हो—शीघ्र जाना चाहता हो ॥ १०७ ॥

निमि मीलत दाक्भोज लोचनानि सरोजिनी ।
दुःख भारात् प्रियस्यैव तां दशामुपाजग्मुषः ॥ १०८ ॥

सरोज रवि वियोग से बन्द हुए, कुमुदिनियाँ विहँसने लगी प्रिय वियोग का भार और संयोग की आशा इसी प्रकार हर्ष विषाद को कारण होती हैं ॥ १०८ ॥

निशा संभोग शृंगार तत्परा हरिणीदृशः ।
आसन गृहे गृहे दूति संल्लाप व्याकुलास्तदा ॥ १०९ ॥

प्रत्येक घर में निशा संभोग की क्रियाएँ होने लगीं सर्वत्र सेविकाएँ शृंगार रस में निमग्न हो मृगनयनी आसनादि की व्यवस्था में कोलाहल कर रहीं थी । अर्थात् सर्वत्र सुहाग रात्रि की चर्चा एवं तज्जन्य क्रियाओं की वार्ता चल रही थी । सेविकाओं को इसी विषय की आकुलता हो रही थी ॥ १०९ ॥

प्रससार नभो भूमौ सन्ध्यावल्लीव वारुणी ।
काले भीत् खादत रक्त कन्दांभो भास्करोभवत् ॥ ११० ॥

संध्यारूपी वल्ली के वध से आरक्त नभोमण्डल हो गया, चारों ओर आकाश में लाली छा गई । सूर्य भी रक्ताभ हो गया अर्थात् मानों रक्तकन्द भक्षण कर प्रभाहीन हो गया ॥ ११० ॥

प्रकाशितं स्वयं विश्व माक्रान्तं तिमिरारिणा ।
कथं नु शक्यते द्रष्टुमिति भास्वान् स्तिरोदधे ॥ १११ ॥

चन्द्र की उज्ज्वल ज्योत्स्ना विश्व में व्याप्त हो गई स्वयं सर्वत्र प्रकाश फैल गया । इसके वैभव को कैसे देखना मानों इसी ईर्ष्या से सूर्य अस्त हो गया ॥ १११ ॥

प्रबोधितास्ततो दीपाः प्रति वेश्म तमच्छिदः ।
स स्नेहाः सदृशो पेताः पात्रस्थाः सुजना इव ॥ ११२ ॥

अन्धकार के भेदन करने वाले प्रदीप घर-घर में जल गये। वे स्नेह से भरे प्रदीप ऐसे प्रतीत होते थे मानों अपने स्नेही के प्रेम मिलन की बधाई देने आये हों। क्योंकि उस नव दम्पत्ति में प्रेम रूपी स्नेह था और इनमें स्नेह-तैल भरा हुआ था। ठीक ही है समान स्वभाव वालों में ही स्नेहाधिक्य मैत्री होती है ॥ ११२ ॥

कौतुकाद्विवतं दृष्टुं वधूवर युगं तदा।
निशा नारी समायाता तारा मौक्तिक भूषणा ॥ ११३ ॥

उस समय कौतुक से इठलाती निशानारी तारागणों रूपी मोतियों के आभूषण धारण कर आई। क्योंकि वर-वधु को देखने के लिए वह लालायित हो रही थी ॥ ११३ ॥

तमः स्तंबेर मेरणेव मत्वा क्रान्तं जगकजवात्।
उदंधाय नभोरण्ये चन्द्र सिंहांशु केशर: ॥ ११४ ॥

कहीं मेरी मृत्यु न हो जाय इस भय से तम अंधकार शीघ्र भाग निकला। क्यों कि आकाश रूपी रण में चन्द्र रूपी सिंह सुकेशरी बाणा धारण कर उदय को प्राप्त हो गया ॥ ११४ ॥

मन्द मन्द तमस्तोमं व्योमतो मकरं रभात्।
चन्दनैव मदैनैव लिप्तं स्मर नृपाङ्गणम् ॥ ११५ ॥

शनैः शनै सघन अंधकार मन्द-मन्द गति से आकाश से विलीन हुआ चन्द्र की निर्मल वेगशाली किरणों द्वारा कामदेव नृपति का आंगन चन्दन रूपी मद के द्वारा लीपा गया। अर्थात् चारों ओर कामदेव को उद्दीप्त करने वाला वातावरण विस्तृत हो गया ॥ ११५ ॥

तत क्षीरार्णवस्येव कल्लोलैः सकला दिशा।
क्षालिता इव भाश्चक्रैश्चक्रे कुमुद बान्धव: ॥ ११६ ॥

उस समय चन्द्र की शुभ निर्मल-उज्ज्वल किरणें दूध की भांति बिखर गई। ऐसा प्रतीत होने लगा मानों क्षीर सागर की कल्लोलों से समस्त दिशाएं प्रक्षालित हो गई हों, आभा व्याप्त हो गई। कुमुदबांध व चन्द्र मुस्कुराने लगा ॥ ११६ ॥

दवशं त्यक्त हारापि मुग्धा कापि रसोत्सुका ।
स्तनाभोगं लसच्चाल्पचन्दनांशु कृत तदभ्रमा ॥ ११७ ॥

कोई कामिनी उस समय हारादि छोडकर रति क्रीडा को उत्सुक हो रही दिखाई पडती थी, कोई अपने स्तन मण्डल के मध्य चन्दन चर्चित कर भ्रमित सी हो रही थी । अर्थात् चन्दन है या कंचुकी यही उसे भान नहीं रहा ॥ ११७ ॥

दूतीभिर्गदिता स्मराः सकम्पारत कौतुकाः ।
मुग्धानिवेशिता: शय्यो रसंगे धीशां हठादिव ॥ ११८ ॥

दूतियों के द्वारा मन्मथोन्माद की कथाएँ सुन कामभोग के लिए आतुर हो गई । शरीर कांपने लगा, ऐसा लगता था मानों कोई मुग्धा बलात् शय्या पर आसीन करदी हो प्रेम संयोग के लिए ॥ ११८ ॥

अमृतैरिव निर्धौते कर्पूरैरि व पूरिते ।
जाते तदा करै रिन्दो रम्ये भुवन मण्डपे ॥ ११९ ॥

भुवन मण्डप में चन्द्र किरणें अमृत से अभिसिंचित, कर्पूरादि से प्रपूरित के समान हो गईं ॥ ११९ ॥

उद्दण्ड काम को दण्ड चण्डी माक्रान्त विष्टपे ।
सङ्केत मन्दिर द्वार निषीदद भिसारके ॥ १२० ॥

चारों ओर भूमण्डल पर उद्दण्ड-प्रचण्ड काम का राज्य छा गया । अभिसारिकाएँ अपने-अपने संकेतित भवनों के द्वार पर सप्रतीक्षा स्थित हो गईं ॥ १२० ॥

मानिनी मान निर्णाश विधि व्यासक्त वल्लभे ।
विचित्र रत संमर्द कर्दथित नवांगने ॥ १२१ ॥

नाना प्रकार रति संमर्दन से माननीयों का मान मर्दन हो गया, वल्लभा में आसक्त कामी विचित्र रति क्रीडा से क्रिया करते हैं । नव यौवन का प्रथम मिलन अनोखा ही होता है ॥ १२१ ॥

स्वत: स्वरूप सम्प्राप्ति वनिता सक्त योगिनि ।
दक्ष पण्यांगना लोक वञ्चितग्रामभोगिनि ॥ १२२ ॥

स्वभाव से रूप सम्पत्ति से समन्वित माननीयों में आसक्त जन क्रीडारत होने लगे किन्तु पण्याङ्गना—वेश्याओं से भागी जन विशेष रूप से वञ्चित किये जाते हैं ॥ १२२ ॥

केतकी कुसुमोद्दाम गन्ध मुग्ध मधुव्रते।
वियोगिनी मनः कुण्ड प्रज्वलत् विरहानले ॥ १२३ ॥

चारों ओर आमोद-प्रमोद का वातावरण छा गया। सभी अपनी-अपनी प्रिय-प्रियाओं के मिलन की आशा में झूम उठे किन्तु इस मनोरम दृश्य में जबकि केतकी कुसुम विहंस रहे हैं, उद्दाम मुग्ध-उन्मत्त भौंरे उनपर मंडरा रहे हैं उस समय वियोगिनियों—जिनके पतिदेव परदेश चले गये हैं—उनका मन रूपी सरोवर भयंकर विरह ज्वाला से जलने लगा ॥ १२३ ॥

इत्याद्यनेक चेष्टाभिः प्रवृद्ध मदनोत्सवे।
समये तत्र तौ नीतौ जनंमातृ गृहं गतौ ॥ १२४ ॥

इस प्रकार उस मदनोत्सव में नाना प्रकार की चेष्टाएँ हो रही थीं उसी समय उन दोनों नव दम्पत्तियों को मातृगृह में प्रवेश कराया गया। तदनन्तर उन्हें शयनागार में विश्रामार्थ ले गये ॥ १२४ ॥

निर्मले सुकुमारे च स नर्मे मुनि मानसे।
यथा तथा स्थितौ तल्पे तौ तदा मुदिताशयौ ॥ १२५ ॥

वह कुमार अत्यन्त निर्मल, सुकुमार और मुनिमन सम सरल चित्त था। दोनों ही शुभ परिणामों से युक्त यथा तथा शैया पर आसीन हुए ॥ १२५ ॥

लज्जा लोलं विलसदतुल प्रेम संभार मुग्धम्।
गाढात् कण्ठ रति रस वशं कौतुकोत् कम्पिचित्तं ॥
दृं दृं निन्धेवदन मिहिता धीर विस्तारि नेत्राम्।
रात्रि साम्यत्तरल हृदय प्रोषितां तत्तदानीम् ॥ १२६ ॥

इस समय उस सुन्दरी के कपोल लज्जा से अरूण हो गये, उसने भी उस अनुपम रूप राशि में मुग्ध हो उसका गाढालिङ्गन किया। उस सुकुमारी का शरीर कम्पित होने लगा विस्फारित नेत्र वाली उसके मुख

से टूं टूं ध्वनि निकल रही थी उस [illegible] [illegible] झपकै को अधीर सी अनुभव करने लगी । श्रमित हुए दम्पत्ति ने उस तरल रात्रि को तरल हृदय से अन्त को प्राप्त कराया ।। १२६ ।।

प्राची कुमकुम् मण्डनं किमथवा राव्यंगना विस्मृतम् ।
रक्ताम्भोज मयो मनोज नृपते रक्तातपत्रं किमु ।।

वक्रं ध्वान्त विभेदकं द्युवनिता मांगल्य कुम्भ किमु ।
इत्थं शांकित मम्बरे स्फुटमभूद्भानो रेतदा मण्डलम् ।। १२७ ।।

मन्द मन्द गति से निशा रानी प्रयाण करने लगी । चारों ओर कुमकुम सी लाली फैल गई हो अथवा रात्रि अंगना विस्मृत सी हो गई हो अथवा लाल कमल पत्रों का छत्र कामदेव नृपति पर धारण किया गया हो अथवा अंधकार समूह का भेदन कर दिवस वनिता मङ्गल कुम्भ सजाकर आयी है क्या ? प्राची में लाल-लाल गोल-गोला (सूर्य) उदय होने को है मानों दिनांगना कुंकुम मण्डन कर उपस्थित हुयी है अथवा मंगल रूप स्वर्णकुम्भ धारण कर आयी है । इस प्रकार मन में नाना शंकाओं का उद्भव करने वाला बालरवि गगन मण्डल में अत्यन्त रमणीय क्रीडा करता हुआ उदयाचल पर आरूढ हुआ । उस समय मानों इन दम्पत्ति को बधाई देने ही सज कर ऊषा रानी उपस्थित हुयी ।। १२७ ।।

इति श्री भगवद् गुणभद्राचार्य विरचिते जिनदत्त चरित्रे द्वितीय सर्ग समाप्त हुआ ।

(तृतीय—सर्ग)

स्थित्वा च कतिचित्तत्र दिनानि मुदितस्य सः ।
सन् विज्ञापयामास श्वसुरं गुण मन्दिरम् ॥ १ ॥

कुमार जिनदत्त अपनी नवोढा परम सुन्दरी पत्नी के साथ मनोवाञ्छित भोग भोगता हुआ कुछ समय अपने ससुराल में ही रहा। कुछ दिनोपरान्त एक दिन उसने अपने श्वसुर से निवेदन किया कि यद्यपि मैं यहाँ अति प्रमुदित हूँ तो भी मेरे माता-पिता मेरी प्रतीक्षा में पलक पांवडे बिछाये बाट जोह रहे हैं। अतः हे गुणभूषण मुझे आज्ञा दें ॥ १ ॥

यथा तातादयो माम मदागमन मञ्जसा ।
मृगयन्तीव तिष्ठन्ते ततः प्रेषय मां लघु ॥ २ ॥

मेरे परिजन मेरे आगमन की वेला खोज रहे हैं, इसलिए आप शीघ्र ही हमारी विदाई करने की कृपा करें ॥ २ ॥

अनुज्ञातस्त तस्तेन स दुःखेन कथञ्चन ।
भणित्वेति यथा पुत्र विच्छेव स्तव दुः सहः ॥ ३ ॥

जवांई की विज्ञप्ति सुनकर वणिक् पति को दुस्सह कष्ट हुआ, फिर भी किसी प्रकार लौकिक व्यवहारानुसार वह कहने लगा—आपका वियोग अत्यन्त दुःसह है फिर भी जाना उचित है ॥ ३ ॥

दत्वा परिकरं सर्वं दासी यानादि संयुता ।
पुत्री समर्पिता तस्मै श्री वत्स्यायेव गोमिनी ॥ ४ ॥

पुत्री को योग्य दास-दासी, सवारी, वस्त्राभूषणादि सहित उसे समर्पित किया। अर्थात् साक्षात् लक्ष्मी स्वरूप पुत्री दामाद को साथ देकर विदा किया ॥ ४ ॥

ततस्तमनु यातुं ये चेलुः श्रेष्ठयादयो जनाः ।
आगत्य ते स्थिताः सर्वे बाह्योद्यान जिनालये ॥ ५ ॥

तथा पुत्री को पहुँचाने के लिए सेठ-सेठानी, कुटुम्ब-परिवार जन भी चल पड़े। नगर के बाहर उद्यान में सब लोग समन्वित हो गये। वहाँ शोभनीय जिनालय में सब समूह आनन्द से प्रविष्ट हुआ ॥ ५ ॥

तत्र पूजादिकं कृत्वा शिरस्या घ्राय देहजाम् ।
शिक्षया मास गंभीर मिति तां विनतां पिता ॥ ६ ॥
सुतन्वो मा कृथा जातु क्रौर्यं दौर्जन्य चापलम् ।
अन्यथास्याः समस्तानां विष वल्लीव दुर्भगा ॥ ७ ॥

सर्वप्रथम श्री जिनेन्द्र प्रभु की पूजा की, भक्ति से नमस्कारादि कर पुनः पुत्री को हृदय से लगाया, प्रेमाश्रुओं से उमड़ते प्रवाह को थामकर पुत्री को सुयोग्य, यशवर्द्धक शिक्षा देने लगा "हे पुत्रि ! कभी भी किसी के साथ क्रूर व्यवहार नहीं करना, कठोर वचन नहीं बोलना, दुर्जनता की चपलता नहीं करना । क्योंकि इस प्रकार के क्रूर व्यवहार से विषवल्ली के समान नहीं बनना । दुर्भाग्य की पात्र नहीं होना ॥ ६–७ ॥

पत्युश्छायेव भूयास्त्वं सर्वदानुगता सती ।
समान सुख दुःखा च कुवृत्ताचार दूरगा ॥ ८ ॥

अर्थात् सबके साथ प्रेम का व्यवहार कर सबकी प्रीतिपात्र बनना कुलजाओं की सद्नीति है । हे पुत्री ! तुम पति की छाया बनकर रहो, सर्वदा पतिदेव की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करो । उनके सुख में सुख और दुःख में दुःख समझना, कुत्सिताचार से निरन्तर दूर रहना ॥ ८ ॥

धर्म कार्य रता नित्यं गुरु देव नता सुते ।
निज वंश पताकेव भूयाः किं बहुभाषितैः ॥ ९ ॥

सतत धर्म कार्यों में रत रहना, हे सुते ! नित्य ही देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति में तत्पर रहना, विनम्र बनना, अधिक क्या कहूँ तुम अपने वंश की कीर्ति ध्वजा समान यशस्विनी बनो ॥ ९ ॥

इस प्रकार पिता ने नाना नीतियुक्त एवं धर्मयुक्त वचनों से अपनी पुत्री को सम्बोधित किया ।

गाढ मालिंग्य तत्रैव बाष्प पूर्ण विलोचना ।
रुदन्ती तां जगादेति मातापि प्रीति पूर्वकम् ॥ १० ॥

उसी प्रकार अश्रुपूर्ण लोचनों से माता ने भी गाढ आलिंगन-गले लगाया । प्रीति पूर्वक रुदन करती हुई उससे कहने लगी । विलपती पुत्री से बोली ॥ १० ॥

विमल श्रेष्ठी अपनी पुत्री विमलावती को विदा के समय सुयोग्य यश वर्द्धक शिक्षा देते हुए

परम पूज्य १०५ श्री गणिनी आ० विजयामती माताजी संघ

विराजे हुए (बायें से दायें) : १०५ क्षु० श्री विजय प्रभा, १०५ क्षु० श्री जय प्रभा, १०५ श्री आ० वसमती माताजी एवं १०५ श्री गणिनी आ० विदुषीरत्न विजयामती माताजी ।

खड़े हुए : ब्र० शान्ता बाई, ब्र० [illegible] बाई, ब्र० पद्मप्रभा, ब्र० [illegible]

विलास हास सञ्जल्प तल्प माल्य विभूषणम् ।
गतागत ञ्च सर्वेण माकषि स्वच्छदं सुते ॥ ११ ॥

हे बेटी ! शृंगार, हास्य, वार्तालाप, शयन, माला भूषा, आना-जाना आदि क्रियाएँ कभी भी स्वच्छन्दता से नहीं करना। अर्थात् शीलाचार, सदाचार और कुलाचार को दृष्टि में रखना ॥ ११ ॥

चित्तं पत्यु रविज्ञाय माकुथा मान मायतम् ।
उत्कण्ठिता च मा भूस्त्वं मस्मभ्यं शुभ दर्शने ॥ १२ ॥

हे शोभने हमेशा अपने पतिदेव के अभिप्रायानुसार चलना। अहंकार नहीं करना। हम लोगों के प्रति भी उत्कण्ठा दर्शित नहीं करना। किसी प्रकार अपमानित होना पड़े इस प्रकार का कोई भी कार्य नहीं करना ॥ १२ ॥

ज्येष्ठ देवर तद्भामा श्वश्रुः विनता भवेः ।
नर्माविकमसंबद्धं येन केनापि मा कुथाः ॥ १३ ॥

जेठ, देवर एवं जिठानी, देवरानी तथा सास-ससुर के साथ सतत विनम्र रहना अर्थात् विनयपूर्वक व्यवहार करना। किसी के भी साथ हँसी मजाक नही करना। अथवा किसी को पराभव करने वाला व्यवहार नहीं करना ॥ १३ ॥

श्वश्रूं मातरिति ब्रूहितातेति श्वसुरं नता।
प्राणनाथं प्रियेशेति त्व सुतेति च देवरम् ॥ १४ ॥

विनम्रतापूर्वक सास को माता और स्वसुर को पिता एवं पति को प्राणनाथ तथा देवर को पुत्र कहकर सम्बोधन करना अर्थात् कहना ॥ १४ ॥

प्राभृतानिसुते तुभ्यं प्रहेष्यामि सहस्रशः ।
शिक्षयित्वेति तां माता विरराम सु दुःखता ॥ १५ ॥

हे पुत्री तुम्हारी यशोवल्ली बढ़े। मैं हजारों पारितोषिक-वस्तुएँ तुम्हारे लिए यथा समय भेजती रहूंगी। इस प्रकार अत्यन्त दुःख से माँ ने अपनी प्राण प्यारी पुत्री को शिक्षा दे विदा ली ॥ १५ ॥

प्रणम्य जिनदत्तेन ततो व्यावर्त्यता गृहम्।
गतास्ते तां कुमारोऽपि लात्वाप स्व पुरं क्रमात्॥ १६॥

जिनदत्त ने भी सास श्वसुर को यथोचित प्रणामादि किया और अपने घर की ओर प्रस्थान किया। क्रमशः चलकर अपने नगर के निकट पहुँचा उधर वे लोग भी अपने घर वापिस गये॥ १६॥

आयातं सं ततो ज्ञात्वा गत्वा तातो महोत्सवैः।
पुरं प्रवेशया मास सकान्तमिव मन्मथम्॥ १७॥

जिनदत्त के माता-पिता अपने पुत्र के आगमन के समाचार प्राप्त कर हर्ष से महा-महोत्सव पूर्वक पुत्र की अगवानी को आये। नाना शुभ माङ्गल्योत्सव सहित पुत्रवधू सहित पुत्र का पुर प्रवेश कराया। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानों रति सहित साक्षात् कामदेव ही आ रहा हो॥ १७॥

विशन्तं तं समासाद्य चुक्षुभे प्रमदा जनैः।
उदितं यामिनी नाथं तरंगै रिव वारिधेः॥ १८॥

प्रवेश करते हुए उन नव वर-वधू को देखने के लिए नगर नारियाँ इस प्रकार उमड़ पड़ीं जिस प्रकार चन्द्रोदय होने पर सागर की तरंगें हिलोरों के साथ उमड़ पड़ती हैं। प्रमदाओं के नेत्र उनके सौभाग्य सौन्दर्य का पान कर तृप्त ही नहीं हो रहे थे॥ १८॥

मण्डनादिक मुत्सृज्य प्रतिरथ्यं प्रधाविताः।
कारिचदन्या पुनारूढाः प्रासाद शिखरावलीः॥ १६॥

कोई-कोई तो अपने मण्डन-शृंगार को अधूरा ही छोड़कर भाग निकलीं, कितनी ही अपने-अपने मकानों की छत पर जा चढ़ीं। प्रासादों की शिखरावली भी भर गई॥ १६॥

तन्मु खाम्भोज संसक्ता लोचना कुच मण्डलम्।
काश्चिच्च्युतांशुके हष्टि पातयामास पश्यताम्॥ २०॥
वेगतो धावमानान्या स्रस्त मेखलया स्खलत्।
त्रुटितं हारमप्यन्या गणयामास नोत्सुका॥ २१॥

उनके मुख कमल को निहारने के उद्वेग में कोई तो कंचुकि बिना

पहने ही उघाड़े आ खड़ी हुई। किसी की भागा-दौड़ी में मेखला-करधनी टूट कर गिर गई। किसी का हार टूट कर बिखर गया किन्तु उस मिथुन के देखने की धुन में उन्हें इनका भान ही नहीं हुआ ॥ २०–२१ ॥

अन्या जघानतं धीरा कटाक्षैः क्षण भंगना।
विश्रेन्दीवर मालाभि रर्चयन्तीव भक्तितः ॥ २२ ॥

रूपामृतं पिबसस्य नेत्राञ्जलि पुटैः परा।
कौतुकं काम संताप पीड़िता जनि मान से ॥ २३ ॥

कोई चित्राम जैसी निर्निमिष दृष्टि से कटाक्ष बाण से भेदन की चेष्टा कर रही थी और कोई नेत्र रूपी कमलों का हार अर्पण करती सी चित्राम जैसी खड़ी रह गई। कितनी ही नेत्र रूपी अञ्जुलियों से उनके रूपामृत का पान कर रही थीं। किसी के मन में काम का संताप उत्पन्न हो गया ॥ २२–२३ ॥

अयोपविर्य धन्या यस्या जातो यमीश्वरः।
काचिद्दूचे स्फुटं काम रति युग्म मदः सखि ॥ २४ ॥

कोई कहने लगी यह नारी रत्न धन्य है जिसने ऐसे वर को अपना ईश्वर बनाया। कोई स्पष्ट कहने लगी हे सखि ये वास्तव में काम और रति हैं ॥ २४ ॥

समाशतं सतो श्रेष्ठं विलासं सहितामुना।
भुङ्क्ष्वेति प्रणिगदयान्या लाजाञ्जलि मवाकिरत् ॥ २५ ॥

नाना सतियों के चर्चा का विषय उस कुमार पर सौभाग्य शालिनी नारियों ने लाजा (धान की खील) विकीर्ण की। अर्थात् धान की खील प्रमोद की सूचक वर्षायीं। सैंकड़ों विलासों से युक्त तुम नाना भोग भोगो इस प्रकार के आशीर्वचन कहने लगीं ॥ २५ ॥

मोटनं भञ्जनं जृंभालस्य प्रेम जलोद्गमम्।
तन्वन् नारी जनस्यैव प्राप स्वं सोत्सवम गृहम् ॥ २६ ॥

कोई आलस्य से शरीर को मरोड रही थीं, कोई मटक रही थी, कोई जंभाई ले रहीं थीं, कोई प्रेम रस सिंचन कर रहीं थीं। इस प्रकार

अनेकों चेष्टाओं का निरीक्षण करते हुए उन्होंने घर में प्रवेश किया ।। २६ ।।

तत्राध्यास्य च तुष्कं सगोत्र वृद्धांगना कृतम् ।
प्रतीच्छति स्म माङ्गल्यं कृत पूर्व जिनोत्सवम् ।। २७ ।।

उस समय द्वार पर सगोत्रीय दादी-बुआ आदि वृद्ध नारियां मांगलिक द्रव्यों को लिए प्रतीक्षा कर रही थीं । सर्व प्रथम श्री जिनेन्द्र भगवान की पूजा सामग्री ले प्रभु की पूजा की गई ।। २७ ।।

ततो निर्वतिताशेष विवाहान्त विधि सुधीः ।
तारेश इव रोहिण्या समं रेमे तया निशम् ।। २८ ।।

अनन्तर समस्त विवाह की अन्तिम विधि सम्पादित की गई । सम्पूर्ण विधि विधान के बाद कुमार जिस प्रकार रोहिणी के साथ चन्द्रमा शोभित होता है उसी प्रकार शुभ्र ज्योत्सना समान सुन्दरी विमला के साथ भोग करता शोभित हुआ । रमन करने लगा ।। २८ ।।

भुञ्जानस्य सुखं तस्य पञ्चेन्द्रिय समाश्रयम् ।
जग्मु धर्माविरोधेन मुहूर्त मिव वासरा: ।। २६ ।।

पञ्चेन्द्रियों के नाना विधि भोगों को भोगता था किन्तु धर्म क्रियाओं का उल्लंघन नहीं करता था । अर्थात् धर्मानुकूल गृहस्थ धर्म का सेवन करते हुए उसके दिन मुहूर्त के बराबर बीतने लगे । अर्थात् एक दिन मानों एक मुहूर्त हो ऐसा प्रतिभासित होता था । ठीक ही है सुख-संभोग का काल जाने में देर नहीं लगती ।। २६ ।।

विमुखो मुख मालोक्य याचकस्तस्य नो ययौ ।
सविवेश सतां चित्तं विनयेन महामना: ।। ३० ।।

वह दानियों में सदा अग्रेसर था, उसके द्वार से याचक कभी भी खाली नहीं जाते थे । अपने विनय गुण द्वारा महामना यह सज्जनों के चित्त में प्रविष्ट हो गया । अर्थात् उसकी नम्रता से सत्पुरुष उसे हृदय से प्यार करते-चाहते ।। ३० ।।

हृदये पदमासेवु रस्य पौराणिका कथा: ।
पर रामा विलासाद्या न जातु विजितात्मन: ।। ३१ ।।

पौराणिक महापुरुषों के चरित्र कथाएँ इसके हृदय में स्थान बनाये थे। अर्थात् सदा ही महापुरुषों की कथा करता था, विषय-भोगों की कथाओं से दूर रहता था। पर स्त्री की वाञ्छा तो स्वप्न में भी नहीं थी। यह मन और इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण रखता था। अर्थात् सन्मार्ग पर चलना ही व्यसन था ॥ ३१ ॥

जिनार्च्या ध्यानासक्तः प्रभाते मध्यमेऽह्नि।
संयतेभ्यः प्रदानेन स्वकाले भोग सेवया ॥ ३२ ॥

प्रभात काल में भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र प्रभु की अभिषेक पूर्वक पूजा करना, पुनः शास्त्र स्वाध्याय, तदन्तर मध्यान्ह में संयमियों को आहार दान करना सायंकाल वैयावृत्ति करना समस्त कार्य समयानुसार विधिवत् करने में तत्पर रहता था ॥ ३२ ॥

यावदास्ते सुखांभोधि मध्यगो बुध वल्लभः।
तावदस्यान्यदा जाता शिरोर्तिः सहसा मनाक् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार धर्मध्यान पूर्वक आनन्द से इसका समय जा रहा था कि एक दिन अचानक इसके शिर में दर्द हो गया। यह विद्वानों धर्मात्माओं का प्रिय अपने सुख सागर में मग्न था तो भी अशुभ कर्मोदय ने आ घेरा ॥ ३३ ॥

विनोदाय ततस्तस्य वयस्येन व्यधीयत।
प्रवृत्ताधीश पाद्यात वारणा श्व विमर्द्दनम् ॥ ३४ ॥

मस्तिष्क की पीड़ा को शान्त करने हेतु अपने मित्रों के साथ कुछ मनोरञ्जन के लिए चला गया। यह गज एवं अश्व संचालन में पटु था। क्रीड़ा करता हुआ कुछ दूर निकल गया ॥ ३४ ॥

देवनं चतुरंगानां शर्म वास क्षया श्रयम्।
तत्रैव सोपि संसक्तः कौतुकात समजायत ॥ ३५ ॥

इसने उस स्थान पर देखा कुछ लोग जुआ खेलने में मस्त हैं। वहीं यह भी कौतुक से खड़ा हो गया और कुछ आसक्ति से देखने लगा ॥ ३५ ॥

यावत्तत्रैव सञ्जाता रति स्तस्य ततः कृतम्।
धूर्तैः द्यूत विशेषेषु क्रीडनं धन लम्पटे ॥ ३६ ॥

धीरे-धीरे इसे उस क्रीड़ा से प्रेम हो गया। यह देखकर धन लम्पटी जुआरियों ने अपने वाक् जाल में फंसा लिया और प्रेम से उसे जुआ खेलने को तैयार कर लिया ॥ ३६ ॥

अत्यासक्तया समारब्ध मधिकं सन्ततं ततः।
हारिताश्च प्रगल्भेन द्वयेकादश कोटयः ॥ ३७ ॥

वह कुमार भी क्रीड़ासक्त हो गया और दाव पर दाव लगाने लगा। इसे द्यूत अभ्यास तो था ही नहीं, मायाचार से भी दूर था अतः ११ करोड़ दीनार द्यूत में हार गया ॥ ३७ ॥

कोषाध्यक्षेन तातस्य वारिता धन याचिकाः।
सप्त कोट्यः समाकृष्टा वल्लभा कोशतस्ततः ॥ ३८ ॥

जिनदत्त ने दीनार लाने के लिए कोषाध्यक्ष के पास उन्हें भेज दिया। किन्तु पिता के कोष रक्षक ने उन्हें प्रताड़ित किया एवं धन देने से इन्कार कर दिया। धन याचक खाली हाथ लौट आये। यह देखकर उसने अपनी प्रियतमा के कोष-खजाने से सात कोटि दीनारें मंगाईं ॥३८॥

हारितास्तु निषिध्यास्ते याचकाः कोश पालिना।
गत्वा तैः कथितं तस्य यथा द्रव्यं न हि लभ्यते ॥ ३९ ॥

उनको भी हार गया। कोष पालक द्वारा रोके गये एवं प्रताड़ित याचकों ने जाकर जिनदत्त को सर्व वृत्तान्त सुनाया कि हमें धन प्राप्त नहीं हुआ। कोषाध्यक्ष ने धन देने को मना कर दिया ॥ ३९ ॥

वचनेन ततस्तेषां तुहिनेनेव पङ्कजम्।
मम्लौ वदन मेतस्य संहृतं द्यूत कर्म च ॥ ४० ॥

उनके वचनों को सुनते ही कुमार पर तुषारापात हो गया जिस प्रकार तुषार पात से कमल-सरोज म्लान हो जाते हैं उसी प्रकार इस अपमान से कुमार का मुख पङ्कज भी म्लान हो गया। उसने द्यूत क्रीड़ा बन्द कर दी और इस प्रकार विचारने लगा ॥ ४० ॥

येषामशेष संसार सौख्य सम्पत्ति शालिनी।
स्वभुजोपार्जिता लक्ष्मी धंन्यास्ते मानशालिनः ॥ ४१ ॥

वस्तुत: इस संसार में वे ही पुरुष धन्य हैं, वे ही धनवान हैं, वे ही सुखी हैं जो स्वयं अपने बाहुबल से धनोपार्जन करते हैं। वास्तव में उन्हीं की लक्ष्मी सार्थक है और वे ही मानशाली हैं ॥ ४१ ॥

परपुष्टा भवन्त्येव नूनं परिभवास्पदम् ।
सहन्ते हि पिकाः काकचञ्च्वाघात कदर्थनम ॥ ४२ ॥

जो पर धन से पुष्ट हैं अर्थात् पराये धन से जीविका चलाते हैं वे इसी प्रकार मेरे समान पराभव–तिरस्कार के पात्र होते हैं। यथा कोयल अपने बच्चे को काक के घोंसले में रख देती है, काकली उसे पालती है परन्तु जब यथार्थता प्रकट होती है तो काकों की चोंचों का आघात उसे सहन करना पड़ता है। कोयल समझते ही काकली चोंच से प्रहार कर उसे कदर्थित करती है ॥ ४२ ॥

प्रसादेन पितुः सर्वं पूर्यते मम वाञ्छितम् ।
तथापीदं मनः खेद दायकं मान भञ्जकम् ॥ ४३ ॥

यद्यपि पिताजी के प्रासाद से मेरे सकल मनोरथ पूर्ण होते हैं, मुझे किसी भी वस्तु का अभाव नहीं है, सभी सुख साधन उपलब्ध हैं तो भी यह मान भङ्ग-अपमान असह्य है मन को दुःखित करने वाला है ॥ ४३ ॥

युज्यते नोपभोगाय पुंसामुन्नत चेतसाम् ।
गोमिनी गुरुपत्नीव र्याजिता पूर्व पुरुषैः ॥ ४४ ॥

उन्नत चित्त वाले मनस्वियों के लिए पूर्व पुरुषों द्वारा संचित राज वैभव, गुरु पत्नी के समान भोगने योग्य नहीं है। अर्थात् जिस प्रकार गुरु पत्नी भोगने योग्य वस्तु नहीं है उसी प्रकार पराजित धन भी सत्पुरुषों द्वारा सेव्य नहीं है ॥ ४४ ॥

यत सुतेभ्यः समीहन्ते सन्तः सर्वं प्रकारतः ।
संतान पालनं तत्र हेतु रर्थार्जनादिभिः ॥ ४५ ॥

उदयेनैवयोभानो बंधूनां मुख पङ्कजम् ।
विकाशि कुरुते नास्य चरितेना पितुः किमु ॥ ४६ ॥

उदित होता हुआ रवि क्या अपने बन्धुजन पंकजों को विकसित नहीं करता ? करता ही है फिर मेरे इस चरित्र से क्या जो पिता के वैभव की वृद्धि न कर हानि करने वाला हुआ ॥ ४५–४६ ॥

अलीक व्यसनासक्त चेतसा मयका पुनः।
तथा कृतं यथा नाहं शक्तस्तात मुखेक्षणे ॥ ४७ ॥

असत्य व्यसन में आसक्त ऐसा कर दिया कि पिता का मुख देखने के योग्य भी न रहा ॥ ४७ ॥

एकेतएव जीवन्तु सतां मध्ये महोजसः।
एषां जन्म न सञ्जातं मानभंग मलीमसम् ॥ ४८ ॥

महान पुरुषार्थी, पराक्रमी एक मात्र उन्हीं का जीवन संसार में सार है जिनका जन्म कभी भी तिरस्कृत नहीं हुआ हो। मान भंग से मलीमस जो नहीं हुए वे ही जीवित हैं। पराभव सहित जीवन मरण तुल्य है ॥४८॥

काले प्रदीयते यच्च बिना प्रार्थनयान च।
दीयते यच्च दुःखेन तदवत्त समं मतम् ॥ ४९ ॥

वह विचारने लगा, जो वस्तु बिना याचना किये उचित समय पर दी जाती है, वही देना है; यदि कष्ट पूर्वक, दुःखित होकर कुछ दिया जाय तो वह दत्ति, नहीं देने के ही समान है ॥ ४९ ॥

उक्त्वा न दीयते येषा मुक्तवा बभु तयाल्पकम्।
कालहानिः कृतादाने सन्ति ते प्रेषिता नराः ॥ ५० ॥

"दान देता हूँ" इस प्रकार कह कर यदि न देवे तो यह कुछ अल्प रूप में दान है अर्थात् कहावत है "दे नहीं तो मीठा बोले" तो आश्वासन तो दिया। समय चुका कर कोई उन याचकों को भेज देता है। अर्थात् अभी नहीं कुछ समय बाद आना। इस प्रकार याचक मान भंग का कष्ट सहना पड़ता है ॥ ५० ॥

तावदेव नरो लोके सुराद्रि शिखरोपमः।
कस्यापि पुरतो यावन्न देहीति प्रजल्पति ॥ ५१ ॥

संसार में मनुष्य तब तक हीं सुमेरु के समान उन्नत रहता है जब तक कि वह किसी के सम्मुख "मुझे दो" इस प्रकार नहीं कहता। अर्थात् अयाचक पुरुष सुमेरु पर्वत की शिखा के समान महान और पूज्य माना जाता है ॥ ५१ ॥

विताधनेन नार्थन्ति विमलाः सकलाः क्रियाः ।
विहीना यौवनेनेव सभूषाः पण्य योषिताः ॥ ५२ ॥

विना धन के सम्पूर्ण उत्तम क्रियाएँ शोभनीय या महत्त्वपूर्ण नहीं होती हैं। जिस प्रकार यौवन विहीन वेश्या सुन्दर वेष-भूषा सहित होने पर भी शोभायमान नहीं होती ॥ ५२ ॥

कृतं मेतेन तातापि धनेन मम साम्प्रतम् ।
गत्वा क्वापि करोम्येष धनोपार्जनमुत्तमम् ॥ ५३ ॥

अब तक पिता के धन द्वारा मैंने जीवन यापन किया किन्तु इस समय मुझे कहीं भी जाकर स्वयं उत्तम धनोपार्जन करना चाहिए। पुनः सोचने लगा प्रिया का क्या होगा उसे भी यहाँ रखना उचित नहीं ॥५३॥

प्रिया मे तां निकायालु मन्दिरेपितु प्रभुकः ।
उपायं तं विधास्यामि येन स्यात् कमलामला ॥ ५४ ॥

तब क्या करना ? ठीक है वल्लभा को उसके पिता के घर शीघ्र भेज देता हूँ, अर्थात् विमला को पीहर छोड़दूंगा और मैं स्वयं वैसा उपाय करूँगा जिससे निर्मल सम्पदा अर्जित हो सकेगी ॥ ५४ ॥

विचिन्त्येति ततो लक्ष्य वृत्तिरेष व्यवस्थितः ।
कुतोऽपि ज्ञात वृत्तान्तस्तमाहूय पिता ब्रवीत ॥ ५५ ॥

इस प्रकार योजना बनाकर वह आश्वस्थ हुआ और शीघ्र ही प्रयाण की तैयारी करने लगा। अपने लक्ष्य की व्यवस्था में दत्तचित्त हो गया। किसी भी प्रकार उसके पिता ने इसके अभिप्राय को ज्ञात कर लिया। उसी समय अपने एकलौते लाड़ले प्रिय पुत्र को बुलाया और इस प्रकार दुलार से कहने लगा ॥ ५५ ॥

विषण्णोऽसि वृथा वत्स किमेवं कुरु वाञ्छितम् ।
धनंरेभिरहं पुत्र मान्ने वंधा मवोश्वराः ॥ ५६ ॥

हे वत्स, तुम क्यों वृथा दुखी होते हो, तुम्हें जो प्रिय हो वही करो इच्छानुसार क्रीड़ा करो, इस धन पर तुम्हारा ही अधिकार है मैं तो नाम के लिए इसका स्वामी हूँ ॥ ५६ ॥

निर्भर्त्सितो मया वत्स कोषाध्यक्षः सहस्रशः ।
यदन्यथा महाबुद्धे स्पृशामि तव मस्तकम् ॥ ५७ ॥

कोषाध्यक्ष को मैंने बहुत डाटा है, हजारों बार उसे तिरस्कृत किया है, हे पुत्र मैं तुम्हारे सिर पर हाथ रखकर शपथ पूर्वक कहता हूं कि वह अब आगे कभी भी ऐसा नहीं करेगा ॥ ५७ ॥

विनोदेनामुना किन्तु कुलकेतो न शोभसे ।
कृतं हि प्रथमं पुंसां महापापनिबन्धनम् ॥ ५८ ॥

परन्तु हे शुभे, महाबुद्धिमन ! यह विनोद तुम्हें शोभा नहीं देता तुम कुल की पताका हो, जिन महापुरुषों ने द्यूत खेला है वह उन्हें महा पाप का कारण ही सिद्ध हुआ है यथा युधिष्ठिर आदि ॥ ५८ ॥

कार्यासु जिनेन्द्राणां भवनानि महामते ।
सुवर्णं रूप्य रत्नैश्च प्रतिमाः पापनाशनाः ॥ ५९ ॥

अतः हे पुत्र पुण्यवर्द्धक, पाप भञ्जक महानविशाल जिनालय बनवाओ, हे महामते सुवर्ण, चाँदी, रत्नमयी प्रतिमाएँ बनवाकर प्रतिष्ठा-कराओ, जिससे पाप कर्मों का नाश होगा ॥ ५९ ॥

गीत वादित्र नृत्यादि तत्रैव च दिवानिशम् ।
चतुर्विधाय संघाय देहि दानं यथा विधि ॥ ६० ॥

उन जिनालयों में अहर्निश भजन-गान नृत्यादि कर उत्सव करो । चतुर्विध संघ के लिये यथाविधि दान देओ ॥ ६० ॥

सिद्धान्ततर्क साहित्य शब्द विद्यादि पुस्तकैः ।
लेखयित्वा मुनीनाञ्च दत्तं पुण्यं समर्जय ॥ ६१ ॥

यही नहीं सिद्धान्त, तर्क साहित्य, शब्दकोष आदि उत्तम ग्रन्थ लिखवाकर मुनिजनों को दान कर श्रेष्ठ पुण्यार्जन करो ॥ ६१ ॥

कूपवापीतडागानि प्रपकादि वनानि च ।
पुत्र सर्वाणि चित्राणि यथाकामं विधापय ॥ ६२ ॥

करुणादान करना भी उत्तम और आवश्यक है क्यों कि व्यवहार धर्म भी चलाना कर्त्तव्य है । अतः तुम स्वेच्छानुसार कूप, तडाग, उद्यान,

मनोहर क्रीडागृह आदि का कलापूर्ण निर्माण कराओ। अन्य भी विचित्र कार्य जो कुछ करना चाहते हो, वे रोक टोक करो। तुम्हारे मनोरथ में कोई भी बाधा नहीं आयेगी। यह सब अपरिमित वैभव तुम्हारा ही है ॥ ६२ ॥

विवेश मानसे तस्य न सा शिक्षा विलासिनी।
यतेरिव परं तेन शुश्रुवे अधो विलोकिना ॥ ६३ ॥

पिता द्वारा अनेक प्रकार समझाने पर भी उसके चित्त पर कुछ भी उस शिक्षा का प्रभाव नहीं हुआ। वह एक मौनी यति-साधु की भांति निश्चल बना, मुख नीचे किये सब कुछ सुनता ही रहा पर मन तनिक भी नहीं पसीजा ॥ ६३ ॥

चिन्तितं च पुनस्तेन नोपलम्भो भविष्यसि।
यथा तथा विधास्यामि किं मे बहुविकल्पनैः ॥ ६४ ॥

पुनः उसने कृत दृढ निश्चयानुसार यही विचारा कि इस प्रकार मुझे यथोचित उपलब्धि नहीं होगी। अनेकों विकल्पों से क्या प्रयोजन ? मैं वही करूँगा जिसे कि सोचा है ॥ ६४ ॥

अनुमन्ये च तां तात भारतीमेव मस्त्वेति।
प्रणम्य तं जगामासौ प्रेयसी सदनं ततः ॥ ६५ ॥

वह विचार कर बोला, तात, मैं मानता हूं आपकी वाणी मुझे "भारती-सरस्वती के समान मान्य है।" इस प्रकार कह पिता को नमस्कार कर वह उद्योग शील महामना अपनी प्रेयसी के प्रासाद में गया ॥ ६५ ॥

अभ्यु त्थानादिकं कृत्वा तया ज्ञातं मनोगतम्।
व्यासक्तमानसं चक्रे सविलास कथान्तरैः ॥ ६६ ॥

पतिदेव को आया हुआ ज्ञात कर वह पतिव्रता शीघ्र ही उठ खड़ी हुयी। यथोचित आसन प्रदानादि कर स्वागत किया, एवं पतिदेव के मनोगत अभिलसत को ज्ञात कर कुछ अन्यमनस्क हुयी परन्तु पतिदेव के मनोरंजनार्थ पुराण पुरुषों की कथा वार्ता प्रारम्भ की। विलास पूर्वक उसके उदास मन को आनन्दित करने वाले उपाख्यान सुनाये ॥ ६६ ॥

क्षणान्तरं ततः स्थित्वा तयेति किल चिन्तितम्।
नयामि किल क्षेम स्वमेतं वैचित्यहानये ॥ ६७ ॥

इस प्रकार कुछ क्षण स्थित रहकर उस पतिव्रता ने विचार किया, इनके मन विषाद को दूर करने के लिए कुछ समय के लिए अपने पिता के घर ले जाना उचित होगा। क्योंकि यहाँ जाने से स्वयं इनका व्यथित चित्त शान्त हो जायेगा ॥ ६७ ॥

ऊचे तयार्यं पुत्राद्य मया आ भवतो मम।
पित्रा सु-ग्रहीता लातु तत्र किं क्रियतामिति ॥ ६८ ॥

इस प्रकार तर्कणा कर वह विनम्रा कहने लगी हे आर्य पुत्र आज मेरे पिता के यहाँ से आपके साथ मुझे ले जाने का समाचार आया है इसमें आप ही प्रमाण हैं जैसा उचित समझें करें। ठीक ही है श्रेष्ठ कुलीन घराने की पुत्रीयाँ-पुत्रवधू छाया समान पति का अनुकरण करती हैं ॥ ६८ ॥

आपयामि पितुर्गेहमतएव मिथाविमाम्।
विभाव्येति बभाणेमां युक्तमेवं वरानने ॥ ६९ ॥

समयोचित वार्ता को सुनकर वह भी विचारने लगा, "ठीक ही होगा इसी बहाने से इसे इसके पिता के घर रख कर मैं स्वतन्त्र अपने कार्य को सिद्ध कर सकूंगा।" वह बोला, हे चन्द्रमुखी! वस्तुतः यही युक्ति संगत है। हमें चम्पानगरी चलना चाहिए ॥ ६९ ॥

आपृच्छ्येति ततस्तातमनुज्ञातौ गतौ सुखम्।
परं जनेन संप्राप्तौ चम्पां चारू रुगोपुराम् ॥ ७० ॥

तदनन्तर वह अपने पिता के समीप गया एवं ससुराल जाने के लिए पूछा। पिताजी ने भी उसके मन बहलाव के उद्देश्य से जाने की आज्ञा देदी। पिता की अनुमति प्राप्त कर उसे परम सुख हुआ। कुछ श्रेष्ठ जनों के साथ प्रस्थान किया और शीघ्र ही विशाल सुन्दर गोपुरों से शोभित चम्पापुर में जा पहुँचे ॥ ७० ॥

ज्ञातवृत्त स्ततो श्रेष्ठि विमलामुविलो गृहम्।
निन्ये स्वयं परं प्रीत्या तत्रास्थाद्दिनपञ्चकम् ॥ ७१ ॥

जवाँई का आगमन ज्ञात कर श्रेष्ठी विमल अति आनन्दित हुआ। स्वयं जाकर आगवानी की। आदर पूर्वक घर प्रवेश कराया, पर प्रीति से उसे अपने आलय में रहने की अनुमति दी। इस प्रकार वह कुमार जिनदत्त भी वहाँ अपनी प्रिया सहित पांच दिन तक ठहरा-विश्राम किया ॥ ७१ ॥

अन्येद्युर्गतवानेष क्रीडितुं प्रियया सह।
प्रमदोद्यानमुद्दाम कामविश्राम मन्दिरम् ॥ ७२ ॥

एक दिन वह अपनी प्राणप्यारी के साथ प्रमद उद्यान में क्रीडार्थ गया। यह मनोहर, विस्तृत एवं सुसज्जित बाग साक्षात् कामदेव के मन्दिर के सदृश था ॥ ७२ ॥

मंजु गुञ्जदलिव्रात बद्धतोरणमालिके।
मन्दगन्धवहोद्भूत कामिनीकुन्तलालके ॥ ७३ ॥

वहाँ अति रमणीक विश्राम गृह था। जिसमें तोरण मालाएँ लटक रहीं थी, पुष्प मालाएँ बंधी थी, जिन पर गुञ्जन करते मधुकर मानों नृत्य कर रहे थे। मन्द-मन्द हवा बहने लगी मानों कामिनियों के कुन्तल घुंघराले बालों से क्रीड़ा करना चाहती हो ॥ ७३ ॥

सुगन्धकुसुमामोद मत्त कोकिल कोमले।
अनल्प फल संभार नम्र सर्वमहीरुहे ॥ ७४ ॥

सुगन्धित कुसुम खिल रहे थे। उनकी सुगन्ध से मत्त कोकिला समूह, अनेकों फलों से भरे पादपों में कामोद्दीपक राग अलाप रही थीं ॥ ७४ ॥

चिरं चिक्रीडतत्रासौ सर्वेन्द्रिय सुखावहे।
क्रीडाद्रि दीर्घिका वल्ली विटपादि मनोहरे ॥ ७५ ॥

इस सर्व इन्द्रियों को सुख देने वाले रम्य उद्यान में चिरकाल तक नाना प्रकार की क्रीडाएँ कीं। कभी दीर्घ वापिकाओं में जलकेलि की तो कभी द्रुमच्छाया में विश्राम एवं वल्लिमण्डपों में आमोद-प्रमोद करते रहे ॥ ७५ ॥

भ्राम्यता थतत स्तेन तत्रावर्शी महौषधिः।
शिखायां धारितावृश्यं या करोति नरं क्षणात् ॥ ७६ ॥

इस प्रकार क्रीड़ा करते हुए भ्रमण कर रहे थे कि सहसा वहाँ उस विद्याभूषण कुमार ने एक औषधि देखी जिसको शिखा में धारण करने से वह मनुष्य को अदृश्य कर देने में समर्थ थी। अर्थात् इस औषधि को शिखा में धारण करे तो क्षणभर में वह अदृश्य हो जावे ॥ ७६ ॥

अस्ति यद्यपि सर्वाङ्ग सौख्यं मम निकेतनम्।
तथापि पितुरत्न् सृज्य स्थातुमत्र न युज्यते ॥ ७७ ॥

औषधि ले ली। अब वह विचारने लगा, "यद्यपि यहाँ ससुराल में मुझे सर्व प्रकार की सुख-सुविधा है, तो भी पितृगृह को छोड़कर यहाँ माता-पिता विहीन होकर रहना उचित नहीं ॥ ७७ ॥

अक्षमेयं वियोगं च सोढुं यद्यपि मामकम्।
दन्दह्यते तथाप्येव मानभंगो मनोनिशम् ॥ ७८ ॥

हाँ, यह अवश्य है कि इस छाया समान प्रिया का वियोग सहना अशक्य होगा तो भी मानभङ्ग का कष्ट उससे भी अधिक है यह अग्नि समान मेरे हृदय को रात-दिन जला रहा है ॥ ७८ ॥

पद्मानया न यद्यपि विहिता वश वर्तिनी।
तावदेते विषायन्ते विषया मम सर्वथा ॥ ७९ ॥

इस पद्मानना के साथ सेवित विषय भोग महा रम्य हैं तो भी अपमानित होकर भोगे भोग विषम विष के सदृश हैं ॥ ७९ ॥

तिष्ठन्तमत्र मां मान कीदृशं किल बुध्यते।
इत्यादि बहुसंभाव्य तेनादायि महौषधिः ॥ ८० ॥

यहाँ रहने से मुझे सब क्या समझते हैं, केवल जवाँई ही तो कहेंगे। प्रिया का त्याग ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार नाना ऊहा-पोह कर उसने उस महौषधि को उठा लिया ॥ ८० ॥

शिखाग्रे तां ततो बध्वा भूत्वादृश्य स्ततो नृणाम्।
जगाम क्वापि साप्येवं विललाप तदुज्झिता ॥ ८१ ॥

तत्क्षण उसने उस औषधि को शिखा में बाँध लिया और उसी समय अदृश्य हो उपस्थित जनों के देखते-देखते ही अन्यत्र कहीं चला

गया। यह देख परित्यक्ता एकाकी वह सती विलाप करने लगी ॥ ८१ ॥

प्राणनाथ अपश्यन्ती सा ददर्श दिशोदिशः।
तप्ता लग्न मसेनेव चक्रवाकीव केवला ॥ ८२ ॥

प्राणनाथ विहीन वह चहुँओर दिशाओं को देखने लगी। मानों सन्तप्त चक्रवाक् विहीन चकित चकवी ही विह्वल हो दिशावलोकन कर रही हो ॥ ८२ ॥

त्वदृष्टि जीविता नाथ त्वत्पाद कुलदेवता।
स्वभाव प्रेम संसक्ता हा मुक्तास्मि कथञ्चन ॥ ८३ ॥

एकाकी अबला विमला प्रलाप करने लगी, हे नाथ ! आपकी दृष्टि मेरा जीवन है, आप ही मेरे कुल देवता हैं, आपके चरणों की सेवा ही मेरे प्रेम का प्रसाधन है, स्वभाव से मैं आपके प्रेम में आशक्त हूँ। किसी प्रकार आज मैं त्यक्ता हो गई। नहीं ! प्राणनाथ मुझे कभी नहीं छोड़ सकते, सम्भवतः यह मात्र कौतुहल कर रहे हैं ॥ ८३ ॥

केलि लीलां विहायाशु मुख चन्द्रं प्रदर्शय।
मनः कुमुद माम्लान मार्य पुत्र विकाशय ॥ ८४ ॥

हे प्रभो ! अधिक क्रीड़ा उचित नहीं परिहास छोड़कर अपना मुखचन्द्र प्रकट कीजिये, हे आर्य पुत्र मेरे कुम्लाये मन कुमुद को विकसित करो ॥ ८४ ॥

मनो मे नवनीताभं तप्तं विरह वन्हिना।
विलीन मिव हा पश्चात् किमागत्य करिष्यसि ॥ ८५ ॥

हे प्रभो ! नवनीत के समान मेरा मन विरह रूपी अग्नि से पिघल गया, यदि यह तरल हुआ नवनीत भू प्रदेश पर बिखर जायेगा तो फिर आकर क्या करियेगा ? ॥ ८५ ॥

ताललतास्तर वस्ते ते क्रीडागा स्ते विहंगमाः।
न जानामि गतः क्वापि दृष्टिं बध्दैव वध्रभः ॥ ८६ ॥

हे देव, वे लताएँ, वे वृक्ष समूह, वे क्रीड़ा सरोवर, ये चहकते पक्षी

समूह आदि न जाने कहाँ चले गये। मुझे कुछ भी दृष्टिगत नहीं हो रहा है। मैं तो केवल मात्र आपके मुखचन्द्र की ओर ही दृष्टिबद्ध हूँ ॥ ८६ ॥

स स्नेह स्तादृशी प्रीति श्चाटुकाराश्च ते प्रभो।
विश्रंभ: स च दाक्षिण्यं तदद्य सकलं गतम् ॥ ८७ ॥

आपका वह स्नेह कहाँ गया? उस प्रकार की प्रीति एवं चाटुकारता मनवाद न जाने किधर गई! हे प्रभो वह आयास, दाक्षिण्य चातुर्यादि आज सब विलीन हो गये ॥ ८७ ॥

आश्वासयति मामत्र को विना भवताधुना।
विरहार्ता विभावर्यां भानु नेव सरोजिनीम् ॥ ८८ ॥

हे देव! आज आपके बिना यहाँ मुझे कौन आश्वासन देगा। रात्रि में विरह से पीडित कमलिनी के समान मुझे कौन सान्त्वना देगा? भानु विना कमलिनी की पीडा असह्य होती है उसी प्रकार आपके अभाव में मैं व्यथित हो रही हूं ॥ ८८ ॥

यत्पुरा विहितं नूनं संयुक्तानां वियोजनम्।
दु: सहोयं समायातो विपाकस्तस्य कर्मण: ॥ ८९ ॥

मालूम होता है निश्चय ही मैंने किन्हीं संयोगी प्रेमियों का वियोग कराया होगा वही कर्म का विपाक फल आज दुस्सह रूप में उदय आया है ॥ ८९ ॥

जन्मान्तरेपि संभूति: स्त्रीत्वेन भविता यदि।
तदा जननी रेवास्तु मा वियोग: प्रियं रमा ॥ ९० ॥

हे भगवन यदि जन्मांतर में कदा च पुन: स्त्री पर्याय मिले भी तो प्रिय का वियोग कभी नहीं होना। जननी ही रहो। वियोगिनी नारी न हो ॥ ९० ॥

दीयतां दर्शनं पत्यु: समस्ता वन देवता:।
दु:ख सागर मग्नाया उद्धार: क्रियतां मम ॥ ९१ ॥

हे समस्त वन देवता गण! आप मेरी सहायता करो किसी प्रकार मुझे मेरे पतिदेव का दर्शन कराओ, दु:ख रूपी विशाल सागर में निमग्न मेरा उद्धार करो ॥ ९१ ॥

[illegible] के अदृश्य होने पर विमलावती विलाप करते हुए।

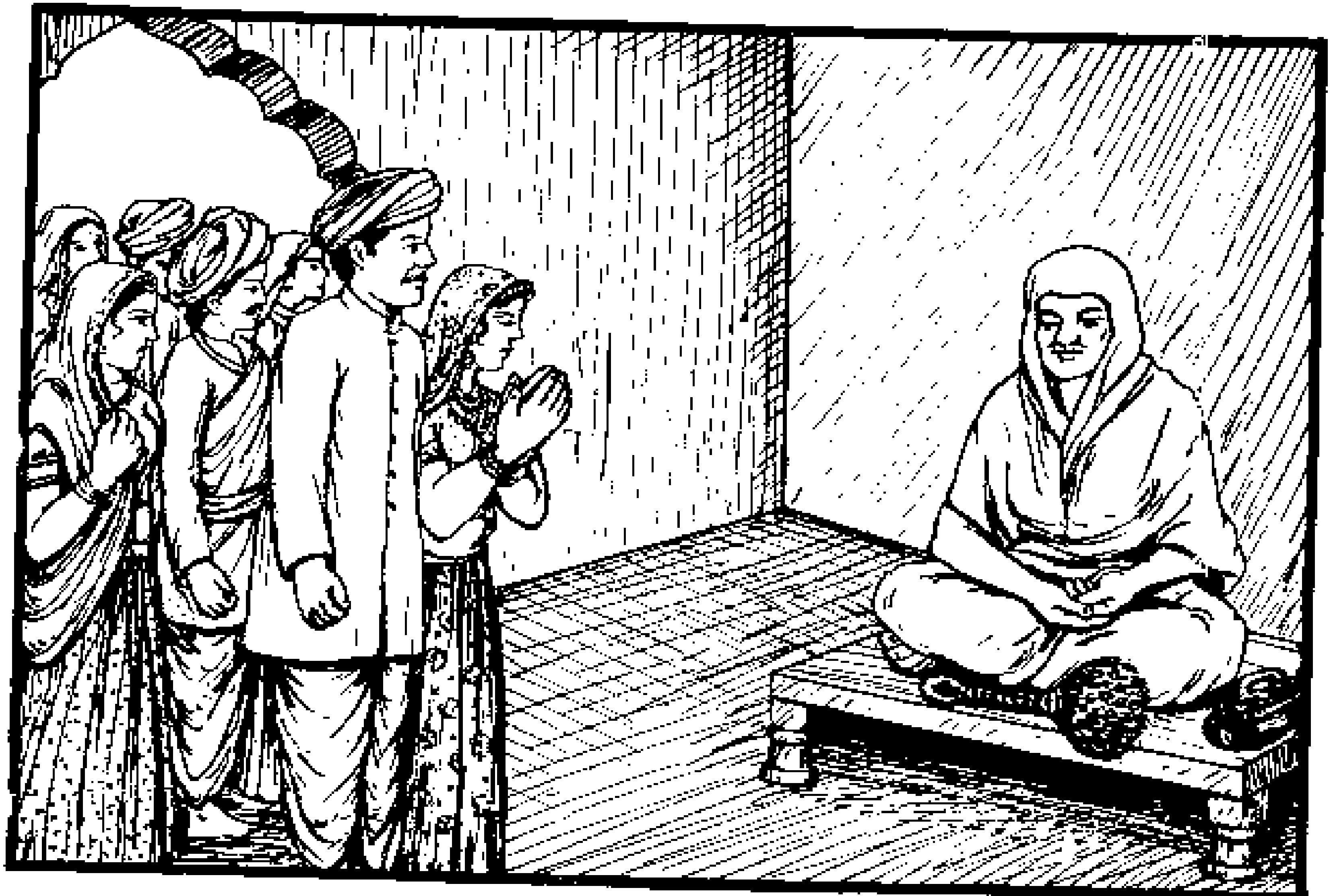

श्रेष्ठी पुत्री को पूज्य आर्यिका माताजी के पास लाते हुए

विलापमिति कुर्वाणा सानीता पितुरन्तिकम् ।
सखी जनेन वाष्पांभः स्नापित स्तन मण्डलम् ॥ ९२ ॥

इस प्रकार विलाप करती हुयी को सखिजनों ने आश्वासन दिया, आंसुओं से सिंचित स्तन मण्डल को पोंछा और किसी प्रकार उसे रुदन करती हुयी को उसके पिता के पास ले गई ॥ ९२ ॥

वार्त्तां निशम्य तां तात स्तामा श्वास्याब्रुवीदद: ।
धर्म दान रता पुत्री तिष्ठात्रैव जिनालये ॥ ९३ ॥

धर्मज्ञ, तत्वज्ञ पिता ने सर्व वार्ता सुनी । स्नेह से उसे समझाया, सावधान किया एवं जिनालय में ले जाकर जिनेन्द्र प्रभु के दर्शन करा साधु परिषद् में ले गया तथा कहा हे प्रिय पुत्रि ! तुम यहीं जिनालय में रहो एवं दान पूजा में मन लगाओ ॥ ९३ ॥

सार्द्धमार्याभि रार्याभि: सखीभि: स्वजनं र्वृता ।
तावत्तिष्ठ सुते यावत्तदन्वेषण मारभे ॥ ९४ ॥

हे पुत्री मैं तुम्हारे पति का पूर्ण तत्परता से अन्वेषण करता हूं । वह जब तक नहीं मिले तब तक तुम आर्यिका माताओं के संग में रहो, तुम्हारी सखियाँ साथ रहेंगी, परिजन भी रहेंगे ॥ ९४ ॥

स्थापयामास तत्रैतां सान्त्वयित्वा समुद्यताम् ।
दाने श्रुते जिनार्चायां वैय्यावृत्ये यथोचिते ॥ ९५ ॥

इस प्रकार सम्बुद्ध कर पुत्री को सेठ ने दान, पूजा, स्वाध्याय, वैयावृत्ति आदि यथोचित कार्य में संलग्न कर जिनालय में रख दिया । क्या आज के माता-पिता ऐसा करते हैं ? उन्हें शिक्षा लेना चाहिए ॥ ९५ ॥

गवेषितश्च यत्नेन पक्षद्वय जनैरयम् ।
सर्वतोऽपि च नालोकी ततस्तस्थे यथायथम् ॥ ९६ ॥

जवांई की खोज में चारों ओर अन्वेषक भेजे परन्तु सफलता नहीं मिली । दो पक्ष एक माह निकल गया सब वापिस लौट आये अपने-अपने स्थान पर ॥ ९६ ॥

ठीक ही है पुरुषार्थ करना अपना कर्त्तव्य है फल कर्मानुसार प्राप्त होता है ।

अथासौ भ्रमन्स्तोऽपि प्राप्तदधिपुरं पुरम् ।
दृष्ट्वा प्रविशता तत्र तेनोद्यानं मनोहरम् ।। ९७ ।।

उधर अज्ञात विचरता जिनदत्त कुमार दधिपुर नामक नगर में पहुँचा। नगर प्रवेश करने के पूर्व मार्ग में उसने एक मनोहर उद्यान देखा ।। ९७ ।।

तस्य मध्ये विवेशासौ विश्रामाय ददर्श च ।
गुल्म वल्ली द्रुमा स्तत्र सर्वानप्य भकेशिन: ।। ९८ ।।

वह श्रमित हो चुका था अत: विश्रामार्थ उसने सुन्दर बगीचे में प्रवेश किया उसके मध्य में जाकर देखा कि उसकी बल्ली, गुल्म, लताएँ सब मुरझाई हैं सूखी पड़ी हैं ।। ९८ ।।

अहो वनमिदं केन हेतुना भववीदृशम् ।
क्रियमाणेऽपि सेकादौ यावदित्थमचिन्तयत् ।। ९९ ।।

इस प्रकार की दशा देखकर वह विचारने लगा, अहो ! यह बाग सतत सींचा जा रहा है तो भी क्यों इस दुर्दशा को प्राप्त है ? ।। ९९ ।।

तावत्तत्र समायात: परित: पक्षिभि: पुरात् ।
जंपानस्थ: समुद्राख्य: सार्थवाहो धनाधिप: ।। १०० ।।

वह इस प्रकार आश्चर्य से सोच रहा था कि उसी समय नगर से परिकर सहित एक धनाढ्य समुद्रदत्त नामक व्यापारी वहाँ आ पहुँचा यही इस उद्यान का पालक था ।। १०० ।।

अयमप्राकृताकार: कोऽपि पान्थ इतिक्षणम् ।
विचिन्त्या वाचि तेना सौ कुतो यूयं समागता: ।। १०१ ।।

अज्ञात पुरुष को उद्यान में देखकर उसने विनय से पूछा (यद्यपि यह अस्वाभाविक आकृति में था) । तो भी, हे भद्र आप कौन हैं और इस समय कहाँ से आ रहे हैं ।। १०१ ।।

भणितञ्च कुमारेण भ्राम्यन् भूमिमितस्तत: ।
क्षेमादिकं परिपृच्छ्य शास्त्रोत्तम गुणञ्च तम् ।। १०२ ।।

उसके प्रश्नानुसार कुमार ने उत्तर दिया, हे भाई मैं भूमि पर इधर

उधर विचरण करता हुआ यहाँ आया हूँ। यह सुनकर उसे उत्तम कुलीन एवं गुणवान ज्ञात कर कुशल क्षेम पूछी ॥ १०२ ॥

उक्तं तेन ततो भद्र दृष्टं वन मिदं त्वया।
अस्ति कश्चिदुपायो वा येनेदं फल वम्दवेत् ॥ १०३ ॥

कुशल समाचार पूछकर बोला हे भद्र ! आपने इस उद्यान को देखा, क्या कोई उपाय है जिससे कि यह फलवान हो सके ? ॥ १०३ ॥

विज्ञाताशेष वृक्षायु र्वेदोवादीवशावद:।
नन्दनाभं करोम्येष विलम्बेन विना वनम् ॥ १०४ ॥

सार्थवाही का प्रश्न सुनकर कुमार ने वृक्ष-वनस्पति विज्ञान द्वारा वृक्षों की आयु आदि का विज्ञान लगाया, यह वनस्पति शास्त्र में निष्णात था। अत: कहने लगा, मैं अतिशीघ्र इस वन को नन्दन वन के समान रमणीक कर दूंगा ॥ १०४ ॥

हृष्टात्मना ततस्तेन सामग्री सकला कृता।
दोहदादिकमादाय कुमारेणाऽपि तत्कृतम् ॥ १०५ ॥

यह सुनकर उसे परमानन्द हुआ और कुमार के कथनानुसार समस्त साधन सामग्री लाकर उपस्थित कर दी। कुमार ने भी अविलम्ब उस सामग्री को लेकर उपवन की काया पलट कर दी ॥ १०५ ॥

पुलकै रिव रागस्य स्तबकै: क्वाऽपि रेजिरे।
अशोका: कामिनी पाद ताडनेन समुद्गतै: ॥ १०६ ॥

उपवन में कहीं पुलकित के समान अरुण स्तबक गुच्छे शोभित हो गये, अशोक वृक्ष कामनियों के पाद प्रहार से प्रमुदित हो झूमने लगे ॥ १०६ ॥

विभेदैस्वाऽपि बाणेन बाणेनेव मनोभुव:।
पुष्प पुंज भृता तत्र वियुक्तानां मनो भृशम् ॥ १०७ ॥

पुंज वृक्ष बाण के बिना ही कामियों को काम बाण से विद्ध करने लगे। पुष्पों से भरा उद्यान वियोगियों को बार-बार खिन्न मन करने लगा ॥ १०७ ॥

कटाक्षैर्लक्षित: पूर्वं पुरंध्रीणां यथादरात्।
उपाहि तिलक स्तेन तिलकत्वं वन श्रिय: ।। १०८ ।।

तिलक वृक्षों की शोभा अनोखी हो गई, अत्यन्त आदर से सौभाग्यवती नारियों ने उन्हें अपने अपने कटाक्ष बाणों से देखा, मानों उन्हें यथार्थ तिलक नाम प्राप्त हुआ। उस वन ने अनुपम शोभा धारण की ।। १०८ ।।

विचकास कुचाभोग सङ्गात् कुरबक: स्त्रिय:।
यथा तथा कृता सोपि भृङ्गैः कुरबकास्तदा ।। १०९ ।।

प्रमदाओं के कुचाभोग से कुरवक कुसुम विकसित हो जायँ इस प्रकार की रचना कर दी। अर्थात् कुरवक के सुमनों पर भ्रमर गुंजने लगे ।। १०९ ।।

प्रमदा मद्य गण्डूषो बकुलैर्य: पपे पुरा।
प्रवृद्ध कुसुमामोदै रुदगीर्ण इव शोभित: ।। ११० ।।

प्रमदाओं के मद्य के गंडूषों (कुल्लाओं) से जो वकुल म्लान हो गये थे वे फूलों से झूम उठे उन पर मधुकर समूह आ गये। मानों कुसुमावली उत्सव मनाने आयी है ।। ११० ।।

कृता राषितक माङ्गल्य दीपकं रिव चम्पकै:।
विशतो रति नाथस्य तत्र पुष्पं विराजितम् ।। १११ ।।

चम्पा सुमनों को मङ्गल दीप के समान द्योतित कर दिया। मालूम पड़ने लगा साक्षात् रति पति-कामदेव आ गया हो ।। १११ ।।

उत्कर्षो गुण सम्पर्क जातेनाशुचि जन्मना।
यदाप्तं कुंकुमेनोच्चै: कामिनी मुख मण्डनम् ।। ११२ ।।

उत्कृष्ट गुणों के सम्पर्क से नीच भी श्रेष्ठ हो जाता है जैसे कुंकुम से मण्डित कामिनी का मुख शोभित हो जाता है। उसी प्रकार यह उद्यान हो गया ।। ११२ ।।

चक्रे कण्टकिभिस्तत्र सर स्पर्कै: खलैरिव।
सुगन्ध गुण योगेन केतकं र्मस्तके पदम् ।। ११३ ।।

यत्र तत्र दुर्जनों की भांति कण्टक भी उत्पन्न हो गये। केतकी आदि अपने सर्वोपरि गुणों से सुगन्ध से परिव्याप्त हो गये ॥ ११३ ॥

सेक धूपन पूजादि योग्यं यद्यस्य भूरुहः ।
विधाय तत्तदा तस्य तेनाकारि विशेषता ॥ ११४ ॥

जिन-जिन पादपों को जिस प्रकार सींचना चाहिए, धूपादि देना, पूजादि करना, क्या-क्या विधि विधान कर वे सब यथाविधि सम्पादित किये गये ॥ ११४ ॥

सविभ्रमाकृता तत्र जात पुष्प फलोद्भवा ।
समस्तापि कुमारेण वनस्पति नितम्बिनी ॥ ११५ ॥

सभी यथोचित अनुष्ठानों द्वारा समस्त बाग फूल-फलों से व्याप्त हो गया। कुमार के द्वारा सम्पूर्ण वनस्पति रूपी नारी सुसज्जित करदी गई ॥ ११५ ॥

माकन्द कलिका स्वाद कल कूजित कोकिलम् ।
सुगन्धी कुसुमा मोद सुख लब्ध मधुव्रतम् ॥ ११६ ॥

आम्र वृक्ष मञ्जरियों से शृंगारित हो गये। उन कलिकाओं का आस्वादन करने कोकिलाएँ गूंजने लगीं—कुहू-कुहू नाद गूंज उठा। सुगन्धित पुष्पों के विकसित होने से मत्त मधुकर समूह सुख प्राप्त कर हर्षातिरेक से मधुर गान गाने लगे ॥ ११६ ॥

माधवि मण्डपो पान्त क्रीडत् कामुक युग्मकम् ।
नाग वल्ली कृता श्लेष सफल क्रमुक द्रुमम् ॥ ११७ ॥

मनोहर सघन माधवी लताओं के सुखद मण्डपों में कामक्रीड़ा विलासी मिथुन क्रीड़ा करने लगे। सुपारियों के उन्नत पादपों से नाग-वल्ली लताएँ लिपट गईं ॥ ११७ ॥

नभोवतीर्ण संभ्रान्त किन्नरी कल गीतिभिः ।
त्यक्त दूर्वाङ्कुरा स्वाद कुरङ्ग क कदम्बकम् ॥ ११८ ॥

किन्नरियाँ नभोमण्डल से इस भू-प्रदेश पर आकर कल-कल निनाद से गान गाने लगीं। उनके वीणा वादन के साथ गाये जाने वाले मधुर गान से मुग्ध हुए हिरण समूह दूर्वा भक्षण छोड़कर स्थिर खड़े हो गये ॥ ११८ ॥

लतान्तर कलश्चारू सारिका शुक जल्पनैः।
उत्कर्णं चकितानेक सङ्केत स्ताभिसारिकम् ॥ ११९ ॥

लतापल्लवों में छुपी सारिकाएँ (मैंनाएँ) सुन्दर गान गाने लगीं—चहकने लगीं, तोता-तोतियाँ भी उनके स्वर से होड़ लगाने लगे। अनेकों अभिसारिकाओं के संकेत से चकित हो गये। सावधान हो कान उठा कर सुनने लगे ॥ ११९ ॥

तरुमूल समासन्न ध्यानासक्त तपोधनम्।
तद्भक्ति भाविता यात खेचरामर मानवम् ॥ १२० ॥

अनेक वृक्षों के मूल में श्रेष्ठ तपोधन साधुराज ध्यानलीन विराज गये। उनकी भक्ति से अभिभूत अनेकों, देव, विद्याधर एवं भूमिगोचरी मानव समन्वित हो गये ॥ १२० ॥

नितान्त फलसंभार भज्यमान महीरुहम्।
रतान्त श्रम संहार कारि चारु प्रभञ्जनम् ॥ १२१ ॥

अत्यन्त फलों के भार से वृक्षावली झूम गयी मानों टूट कर गिर जायेंगे। मिथुनों के रति क्रीड़ा के श्रम को दूर करने वाली शीतल वायु प्रवाहित होने लगी ॥ १२१ ॥

तथा विधं तदालोक्य चक्रे चैत्रोत्सवानसौ।
पूजयामास सद वस्त्र भूषणाद्यैश्च तं सदा ॥ १२२ ॥

इस प्रकार चैत्र मास—बसंत समान राग रंग से पल्लवित, पुष्पित एवं फलित रमणीक मनोहारी उपवन को देखकर उस सार्थवाह को परमानन्द हुआ। उसने अनेकों वस्त्राभूषणों से उस कुमार की पूजा की अर्थात् सत्कार किया ॥ १२२ ॥

राजादि जन विख्यातो नारी नेत्रालि पङ्कजः।
जिनदत्तो भवत्तत्र जिन धर्म परायणः ॥ १२३ ॥

यही नहीं स्वयं उस नगरी के राजा ने भी उसे पुरस्कृत किया। ठीक ही है धर्म परायण पुरुष का कहाँ कौन सम्मान नहीं करता। वह राजा, रानी, पुरजन आदि सबकी आँखों का तारा हो गया अर्थात् सबके नेत्र रूपी भ्रमरों को पङ्कज समान आनन्द दायक हो गया ॥ १२३ ॥

ततो महात्मा वन नायकेन, पुत्रः स मेने मदनोपमानः ।
धृतः स्वगेहे गुण रत्न कोश सर्वज्ञ धर्मामृत पानपुष्टः ।। १२४ ।।

ततः सर्वज्ञ प्रभु-जिनेन्द्र भगवान के धर्मामृत से पुष्ट, गुणरत्नों का भण्डार, धर्मशील उस कुमार को वन नायक ने पुत्रवत् अपने घर में स्थान दिया। उसने समझा मेरे घर में साक्षात् कामदेव अवतरित हुआ है ।। १२४ ।।

यहाँ वह नाना सुखों का अनुभव करने लगा तथा अपनी धर्मध्यान साधना में तत्पर रहा। परन्तु पराश्रित वृत्ति मनस्वियों को भला कैसे भाती ?

अथान्यदा चिन्तित वानितीवं स्थातुं न मे सद्मनि युज्यतेस्य ।
नयाच दृश्याप्य भिसारिकेव कुताश्रमंती स्व वशो मय श्रीः ।।१२५।।

एक दिन वह विचारने लगा। मुझे इसके घर में रहना उचित नहीं अभिसारिका समान पराई लक्ष्मी का उपभोग, क्या महापुरुषों को करना योग्य है ? मेरे द्वारा उपार्जित लक्ष्मी ही मेरे वश रह सकेगी ।। १२५ ।।

विना न दानेन समस्त धर्मः सु पुष्कलेनापि धनेन कामः ।
विना धनं नो व्यवसायतोस्ति, त्रिवर्ग मूलं तदिदं स्वमेव ।। १२६ ।।

वह आगे सोचने लगा—दान के बिना धर्म की स्थिति नहीं रह सकती, पुष्कल धन बिना दान भी तो नहीं कर सकता, धर्म बिना काम नहीं, धन बिना व्यवसाय भी नहीं चल सकता। अतः तीनों वर्गों का मूल धन ही है ।। १२६ ।।

अथोचिते नेति ततः स तातः प्रयच्छ भाण्डं जलयात्र यानः ।
यामो यदा दाय विचित्र रत्नं, द्वीपं जवात् सिंहल शब्द पूर्व ।।१२७।।

इस प्रकार विचार कर उसने व्यापार करने का दृढ़ निश्चय किया और परम स्नेह पात्र उसने पिता सदृश उस सार्थवाह (व्यापारी) से कहा—' हे तात मैं व्यापार करने रत्नद्वीप जाना चाहता हूं। इसलिए मुझे व्यापार योग्य, नौका-जहाज एवं बर्तन आदि सामग्री दीजिये। जलयान द्वारा मैं शीघ्र ही सिंहल द्वीप जो विचित्र रत्नों का भण्डार है जाना चाहता हूं ।। १२७ ।।

निशम्य तद्वीरितं भरणतिं साथ वाहोमुखा, ।
मयैव सह गम्यतां यदि समस्ति बुद्धिधने ।।

ततः प्रगुणिता खिलोचित विचित्र भाण्डैः समम् ।
जनै बंहु विधैरिमौ मुदित मानसौ प्रस्थितौ ।। १२८ ।।

उसके इस अभिप्राय को सुनकर सार्थवाह बोला, "हे वत्स, मेरे ही साथ चलो, हे बुद्धिधन तुम्हारे साथ रहने से मुझे विशेष लाभ होगा। अस्तु, दोनों अनेकों उचित विचित्र भाण्डों के साथ एवं अनेकों जन समूहों के साथ अति आनन्द से दोनों व्यापार के लिए जहाजों द्वारा प्रस्थान करने को उद्यत हुये ।। १२८ ।।

इस प्रकार श्री गुणभद्र स्वामी विरचित जिनदत्त चरित्र का तीसरा सर्ग समाप्त हुआ।

अथ प्राप्तौ पयोराशेःरूपान्तं क्रमयोगतः ।
ताव प्रास्त श्रमौ शीत वेला वन समीरणौ ॥ १ ॥
कृत्वा पूजादिकं तत्रारूढौ पोतं शुभे दिने ।
प्राप वेगान्तटं सोऽपि प्रेरितः शुभ वायुना ॥ २ ॥

शीघ्र ही समस्त साधनों सहित सागर के किनारे जा पहुँचे । जहाज ठहर गये । इधर कुमार पिता के साथ श्रम दूर करने तट पर उतर गया । शीतल वायु के धीमे झोंकों ने उनकी थकान दूर की । नित्य नियमानुसार जिन पूजनादि की । पुनः शुभ बेला में जहाज पर आरूढ हुए । अनुकूल पवन होने से शीघ्र ही दूसरे तट को जा पहुँचे ॥ १—२ ॥

ततो यतीर्थ हृष्टौ तौ झगित्येव समागमत् ।
प्रविष्टौ च तते द्वीपं पूर्वोदित ममा जनैः ॥ ३ ॥

दोनों आनन्द से शीघ्र ही जहाज से उतर पड़े, और उस सिंहल द्वीप में प्रवेश किया । इन लोगों द्वारा पूर्व निर्दिष्ट द्वीप को देखा गया ॥ ३ ॥

आवासिता जनास्तत्र बहिरन्त यथा यथम् ।
कुमारः श्रावकं मन्ये वृद्धैकस्या गृहे स्थितः ॥ ४ ॥

उस द्वीप में सर्व सार्थवाह के साथी यत्र तत्र यथा स्थान ठहर गये अर्थात् पड़ाव डाल दिया किन्तु कुमार को एक वृद्धा माँ ने उत्तम श्रावक समझ कर अपने घर में बड़े प्रेम से ठहराया ॥ ४ ॥

विविक्ताहार पानादि बुध्या सार्थेश सम्मताः ।
क्रियादिकं ततः कर्त्तुं प्रवृत्ताः सकला जनाः ॥ ५ ॥

क्षुधा तृषा से संतप्त सभी जन सार्थवाह की आज्ञानुसार स्नानादि क्रियाओं में संलग्न हो गये ॥ ५ ॥

योऽत्र राजा पुरस्तस्या मेघवाहन संज्ञितः ।
विजया कुक्षि संभूता तत्सुता श्रीमतीत्यभूत् ॥ ६ ॥

इस नगरी का राजा मेघवाहन था । उसकी महिषी रानी का नाम विजया था । विजया के उदर से प्रसूत श्रीमती नामकी कन्या थी ॥ ६॥

प्राप्तापि यौवनं कामा मोघास्तं सौम्य दर्शना ।
सेन्दु मूर्ति रिवांकेन रोगेणाति कदर्थिता ॥ ७ ॥

यह कन्या अपने सौन्दर्य से तिलोत्तमा और रम्भा को भी तिरस्कृत करने वाली थी । पूर्ण यौवन को धारण कर चुकी थी । चन्द्रकला सी सौम्य और मूर्तिमान रति के समान सुकुमारी थी । किन्तु अशुभोदय से किसी भयङ्कर रोग से पीड़ित थी ॥ ७ ॥

यथा यः सन्निधौ तस्याः कोपि स्वपिति याति सः ।
यम गेहं ततस्तस्यां निर्विण्णाः स्वजनाश्च [illegible] ॥ ८ ॥

कारण यह था कि जो भी कोई उस कन्या के साथ रात्रि में सोता था वही मृत्यु का भाजन हो जाता था । इस कारण उसके माता-पिता आदि परिजन उससे विरक्त हो गये थे । दुःखी थे ॥ ८ ॥

प्रासादे सुन्दरे साध्वी सा बहिः स्थापिता ततः ।
अभ्यर्थित श्च भूपेन पौरलोकः स गौरवम् ॥ ९ ॥

एक सुन्दर उच्च महल बनवा कर उसे अलग ही रख छोड़ा था । राजा द्वारा सभी पुर वासीयों को सूचित कर दिया गया कि कोई भी इसे निरोग कर मेरे गौरव का पात्र बने ॥ ९ ॥

केनाऽपि पूर्व पापेन ममेयं देहजाजनि ।
आ नयामि ततो यावत् कुतोऽपि भिषजो जनाः ॥ १० ॥

किसी पाप कर्म के उदय से मेरी इस पुत्री की यह दशा हुयी है । मैं प्रयत्न पूर्वक कहीं से भी उपचार करू इसलिए आप सब भी उचित वैद्य खोज कर लाओ ॥ १० ॥

प्रति सद्म ततो यातु प्रत्यहं चैक मानवः ।
वस्तु मस्या गृहे चैवं सामेने जनता खिला ॥ ११ ॥

जनता क्षुब्ध हो गई कोई उपाय न देख, सबने निर्णय किया प्रत्येक घर से एक-एक पुरुष इसे प्रदान किया जाय सभी जनता ने यही स्वीकार किया ॥ ११ ॥

अथान्ये द्युः समागत्य नापितेनेति भाषिता ।
कुमार सन्निधौ वृद्धा तवाद्या जनि वारकः ॥ १२ ॥

पारी-पारी से प्रत्येक घर से एक-एक मनुष्य जाता। एक दिन नापिता नाई उस वृद्धा के आया, जिसके कुमार ठहरा हुआ था, वह नौकर बोला "हे माता आज तुम्हारी पारी है।" उस समय कुमार भी उस वृद्धा के पास बैठा हुआ था ॥ १२ ॥

सानिशम्य वचस्तस्य रुरोद करुणं तथा।
वयसां शल्यितं चेतो यथाङ्गण फणाङ्किताम् ॥ १३ ॥

वृद्धा उस वचोहर के वचन सुनते ही बिलख उठी, करुण रुदन करने लगी। उसका हृदय अंकुश से वेधित के समान चीत्कार कर उठा। आँगन में सर्प देखकर जैसे भय होता है उसी प्रकार वह भयातुर हो रुदन करने लगी ॥ १३ ॥

हे धातर्भर्तृ शून्याहं हताशा दुःख पूरिता।
सन्दर्शनेन जीवामि सुत वक्त्रस्य केवलम् ॥ १४ ॥

हे भगवन ! मैं पति विहीन हूं, मेरी आशाएँ निराश में परिणत हो चुकी हैं, दुःख से पीडित हूँ तो भी केवल पुत्र का मुख देखने मात्र से जीवित हूँ ॥ १४ ॥

सह तेन तदप्येव विधाता विदधे किमु।
इत्यादि विलपन्ती सा तेनावाचि महात्मना ॥ १५ ॥

इस समय कुटिल भाग्य ने उस पुत्र के साथ भी यह क्या स्वांग रचा, आज वह भी काल कवलित हो जायेगा। इस प्रकार करुणा जनक रुदन सुनकर वह महामना कुमार इसका कारण पूछने लगा ॥ १५ ॥

समग्र दुःख संभार लीला लुण्टनसंपटे।
मातर्मय्यपि सत्येवं पुत्रे किमिति शोचिषि ॥ १६ ॥

वह बोला, हे माते मैं तुम्हारे समस्त दुःखों को नष्ट करने में समर्थ हूं, मेरे रहते हुए अपने पुत्र के लिए क्यों इस प्रकार विलाप करती हो ॥ १६ ॥

अहं तत्र गमिष्यामि त्वं तिष्ठ सुखिताम्बिके।
तयाभाणि युवां पुत्र वाम दक्षिण चक्षुषि ॥ १७ ॥

तत् कस्य सहातां नाशः किञ्चकामा कृतिर्भवान्।
कुल केतु महा सत्वो मत् प्राणैरपि जीवतु ॥ १८ ॥

हे अम्बिके ! तुम यहाँ सुख पूर्वक निवास करो पुत्र के साथ, मैं स्वयं वहाँ जाऊँगा । यह सुनकर वृद्धा कहने लगी हे वत्स तुम दोनों ही मेरे लिए समान पुत्र हो, भला बाईं चक्षु और दांयी चक्षु में से किसका नाश सह्य हो सकता है । तुम कामदेव की आकृति धारी अपने कुल की पताका स्वरूप हो, महासत्व मेरे प्राणों के लिए सतत जीवन्त रहो ॥ १७–१८ ॥

चिन्तितं च कुमारेण जातेनाऽपि हितेन किम् ।
येनापत् कर्दमे मग्ना नोद्धृताः प्राणधारिणः ॥ १९ ॥

इधर कुमार विचारता है "उस मानव के जीवन से क्या प्रयोजन जो इस प्रकार की गाढ़ आपत्ति रूपी कीचड़ में पड़ी हुई अबला का उद्धार न करे" ॥ १९ ॥

स्वफलैः प्रीणयन्त्येव पान्थ सार्थान् द्रुमा अपि ।
यत्र तत्रोपकाराय यतनीयं न किं नृभिः ॥ २० ॥

मार्ग चारी पथिकों को अपने मधुर रसीले फल प्रदान कर द्रुम गण भी उन्हें संतुष्ट करते हैं तो क्या मनुष्यों के द्वारा मनुष्य का उपकार नहीं किया जाय ? अवश्य ही करना चाहिए ॥ २० ॥

प्राण नाशेपि कर्त्तव्यं परेभ्यः सुधिया हितम् ।
आशाः सुगन्धयत्येव दह्यमानोऽपि चन्दनः ॥ २१ ॥

आगे सोचता है "प्राण नाश होने पर भी बुद्धिमान सत्पुरुषों को परोपकार करना चाहिए जिस प्रकार चन्दन जलाये जाने पर भी दिशाओं को सुगन्धित ही करता है ॥ २१ ॥

स्व वाचा प्रतिपन्ना च जरतीयं ममाम्बिका ।
अपेक्षितुं न युक्तातः सु दुःखा सुत जीविता ॥ २२ ॥

अपने वचनों द्वारा यह माता स्व रूप ज्ञात हुयी है । इस जरा अवस्था में क्या माँ को उपेक्षित करना उचित होगा ? पुत्र के जीवित रहते माँ व्यथित रहे क्या ? नहीं यह कदापि सम्भव नहीं । इसने मुझे पुत्र कहा है मुझे भी तदनुसार मातृ भक्ति का निर्वाह करना चाहिए ॥ २२ ॥

इत्यालोच्याय रोधेन महता जननी तदा।
भणिता तेन सावादीत् महा सत्वं व मस्त्विति ॥ २३ ॥

इस प्रकार तर्कणा कर उसे स्वयं जाने का आग्रह किया उस वृद्धा माँ ने बहुत कुछ रोकने की चेष्टा की किन्तु उसे दृढ़ निश्चय देख उसे कहना पड़ा कि "हे महासत्त्व ऐसा ही हो" अर्थात् जाओ ॥ २३ ॥

ततः स्नातोनु लिप्तश्च सर्वाभरण भूषितः।
पुष्ट तांबूल सद्गन्ध दिव्य वस्त्र विराजितः ॥ २४ ॥

तदनन्तर कुमार ने स्नान कर चन्दनादि सुगंधित द्रव्यों का लेप किया, वस्त्राभूषण धारण किये, ताम्बूल भक्षण किया, दिव्य सुगन्धित वस्त्रों से सुसज्जित हुआ ॥ २४ ॥

स सुनन्द कृपाणाभ्यां भ्राजमान भुजं द्वया।
विद्याधर कुमारो वा प्रतस्थे राजवर्त्मनः ॥ २५ ॥

दोनों भुजाओं में कृपाण धारण की, नारायण के समान शोभाधारी अथवा विद्याधर कुमार के समान प्रसन्न चित्त वह निर्भय कुमार राज मार्ग में चल पड़ा ॥ २५ ॥

कौ तुकाक्षिप्त चेतोभिर्द दृशो सकलैर्जनैः।
प्रासाद शिखरा रूढ नारी भिश्च यथास्मराः ॥ २६ ॥

वह मार्ग में नाना प्रकार कौतुक करता बढ़ रहा था, उसे देखने नर-नारियों की भीड़ लग गयी। महिलाएँ अपने-अपने प्रासादों-मकानों की छतों पर जा चढ़ी, शिखरों पर चढ़ कर देख रही थीं मानों कामदेव ही क्रीड़ा कर रहा हो ॥ २६ ॥

राज्ञाप्यमुं समालोक्य प्राकृताकार धारिणम्।
पार्श्वस्थाः गदिताः कोऽयं क्व चायाति महाद्युतिः ॥ २७ ॥

कुमार्याः सदने वस्तुमिति तैःसमुदीरितम्।
निशम्य स्वं शुशोचासौ धिगस्तु मम जीवितम् ॥ २८ ॥

स्वयं राजा भी इसके स्वाभाविक रम्य रूप को देखकर अपने निकट वर्तियों से कहने लगा "यह कौन है, महा कान्ति पुञ्ज कहाँ से आया

है ?" निकटस्थ जन-समूह ने राजा से कहा, हे नृपति यह आपकी राज कुमारी के सदन में जाने के लिए आया है !" यह सुनते ही स्वयं राजा चिन्तातुर हो गया कहने लगा धिक्कार है मेरे जीवन को ।। २७-२८।।

सुता व्याजतः सैषं काल रात्रिर्हि मम ।
प्रजनिष्ठ जगच्छ्रेष्ठ नररत्न विनाशिनी ।। २९ ।।

वह परिताप करने लगा, आज मेरी पुत्री के बहाने इसे काल रात्रि आई है, इस विश्व श्रेष्ठ नर रत्न का घात करने वाली विभावरी क्या यह कन्या जन्मी है ।। २९ ।।

अहो प्रकृति चापल्यमीदृशं मानुषायुषः ।
येनेषोऽपि महावीरो रात्रावेव विनक्ष्यति ।। ३० ।।

हाय, हाय, कितना चपल है यह आयुष्मन् महावीर है तो भी आज रात्रि में ही विनाश को प्राप्त हो जायेगा ।। ३० ।।

अहोश्लाघ्यं कथं राज्यं मादृशां पापकर्मणाम् ।
ईदृशामपराधेन बिना यत्र विनाशनम् ।। ३१ ।।

मेरे जैसे पापी का राज्य किस प्रकार प्रशंसनीय हो सकता है, हा हा, बिना अपराध के इस प्रकार का प्राणी घात जहाँ हो भला वह राज्य किस प्रकार योग्य हो सकता है ? ।। ३१ ।।

रक्षस्मानं महाभाग निज माहात्म्य योगतः ।
त्वादृशो हि महासत्वो दुर्लभो भुवने यतः ।। ३२ ।।

वह सोचता है यह महा पुण्य शाली है, कहता है-हे महाभाग तुम स्वयं तुम्हारी रक्षा करो, अपने माहात्म्य से जीवन धारण करो, क्यों कि आपके समान महा धीर-वीर संसार में दुर्लभ है ।। ३२ ।।

इत्थं संभाषितो राज्ञा दृष्टिगोचरमाप सः ।
कुमारी भवनं भव्यो भूतसंघात भीतिदम् ।। ३३ ।।

इस प्रकार संभावना कर भूपति कुमार के सामने आया और बोला, हे भव्य यह कुमारी का सदन भूतों का डेरा है । भय का स्थान है ।।३३।।

आरु रोह ततस्तत्र प्रथमां भूमिमुन्नताम् ।
आलोके च तत्रासौ दिक्चतुष्कं शनैः शनैः ।। ३४ ।।

उसी समय वह प्रासाद के उन्नत प्रथम भाग में प्रविष्ट हुआ और शनैः शनैः चारों ओर दृष्टि प्रसार कर निरीक्षण किया ।। ३४ ।।

द्वितीयस्यामसौ दृष्टा चाव पल्यंक सङ्गता ।
सबिकाशभिक्षाविभ्याम् दृग्भ्यां द्वारा च लोकिनी ।। ३५ ।।

पुनः द्वितीय मंजिल में पहुँचा वहाँ उसने पलङ्ग पर आसीन सुन्दराकृति रमणी देखी जो भोजन भिक्षा के लिए मानों आँखें द्वार पर लगाये हुयी थी ।। ३५ ।।

तत्रालोक्य दिशः सर्वास्तदासन्नेऽभ्यवस्थितः ।
स तल्पेनल्प कल्याण भा जनस्थामुवाच सः ।। ३६ ।।

वहाँ भी उस कुमार ने चारों ओर दिशाओं का अवलोकन किया, पुनः उसके सन्निकट व्यवस्थित रूप में जा बैठा उसकी शैय्या एवं उसे देखा, बोला कल्याण भाजा सुनो ।। ३६ ।।

सापि संभाषणा त्तस्या मस्तात्मानं मृगेक्षणा ।
कृत कृत्यमिवात्मानं हृष्टः सोऽपि तवीक्षणात् ।। ३७ ।।

उस कन्या ने भी इस अनुपम लावण्य धारी को देखकर अपने को कृत्य-कृत्य माना, हर्ष से रोमाञ्चित हो उठी, वह मृगनयनी उसके साथ मधुरालाप करने लगी ।। ३७ ।।

ताम्बूलादिकमादाय तया दत्तं विचक्षणा ।
पृष्ठा प्रारब्धवानेष कथां कर्ण सुधारसाम् ।। ३८ ।।

उसी समय उसने कुमार को ताम्बूलादि अर्पण किया । तथा विचक्षण कन्या ने कुमार से कर्ण प्रिय सुधारस भरी कथा पूछी, कुमार भी कथा सुनाने लगा ।। ३८ ।।

यावत्तस्याः समायाता निद्रामुद्रित चेतसा ।
हुंकारस्य विरामेण सुप्तां ज्ञात्वोत्थिताश्च सः ।। ३९ ।।

रात्रि आ चुकी थी । कथालाप सुनते-सुनते वह कन्या निद्रा देवी

की गोद में जा मचली धीरे-धीरे खर्राटा भरने लगी, कुमार भी उसे सोई हुयी जानकर कथा बन्द कर उठा, विचारने लगा ॥ ३९ ॥

चिंतितं च किमश्राहो मरणे कारणं नृणाम् ।
किमेषा पूतना प्रायः किं वा रक्षो विजृम्भितम् ॥ ४० ॥

क्या आश्चर्य है ? मनुष्यों के मरने का कारण क्या हो सकता है ? कोई पूतना-राक्षसी है अथवा अन्य कुछ है जो हो रक्षा का उपाय करना चाहिए ॥ ४० ॥

अन्यद्वास्तु यथा काम-मप्रमत्तो भवाम्यहम् ।
जागरूकानथो लोके तस्करैर्मुच्यते ध्रुवम् ॥ ४१ ॥

अब मुझे यथा शीघ्र सावधान हो जाना चाहिए । प्रमाद त्याग कर सजग रहना होगा, क्योंकि जो जागरूक नहीं रहते उन्हें चोर-डांकू निश्चित रूप से ठग लेते हैं, उसका धन चुराते हैं ॥ ४१ ॥

इत्यालोच्य समानीय मृतकं पृष्ठभूमितः ।
आरोप्य शयनीये च प्रच्छाद्य वर वाससा ॥ ४२ ॥

इस प्रकार विचार कर शीघ्र ही श्मशान से एक मृतक को पीठ पर लाद कर ले आया, उसे अपने स्थान पर सुला दिया और सुन्दर वस्त्र उसे उढा दिया । यह शैया कन्या के बगल ही में थी ॥ ४२ ॥

प्रदीप छायया तस्थौ स्तंभान्तरित विग्रहः ।
उद्घास धौत खड्गोऽसौ दत्त दृष्टि रितस्ततः ॥ ४३ ॥

स्वयं दीपक की छाया में खम्भे की आड में छुप कर बैठ गया । उसने अपना चमकता खड्ग-तलवार निकाली, हाथ में ले इधर-उधर दृष्टि चलाने लगा ॥ ४३ ॥

यावत्तावन्मुखे तस्या जिह्वाऽञ्चित मधुद्गतम् ।
कम्पमानं ज्वलद् वह्नि शिखाभं भय दायकम् ॥ ४४ ॥

कुमार पूर्ण सावधान था, सतर्क था उसी समय राजकुमारी के मुख से भयंकर जिह्वा लपलपाता, अग्नि शिखा समान जाज्वल्यमान, भयावना, सबको कंपाता सा आकार निकला ॥ ४४ ॥

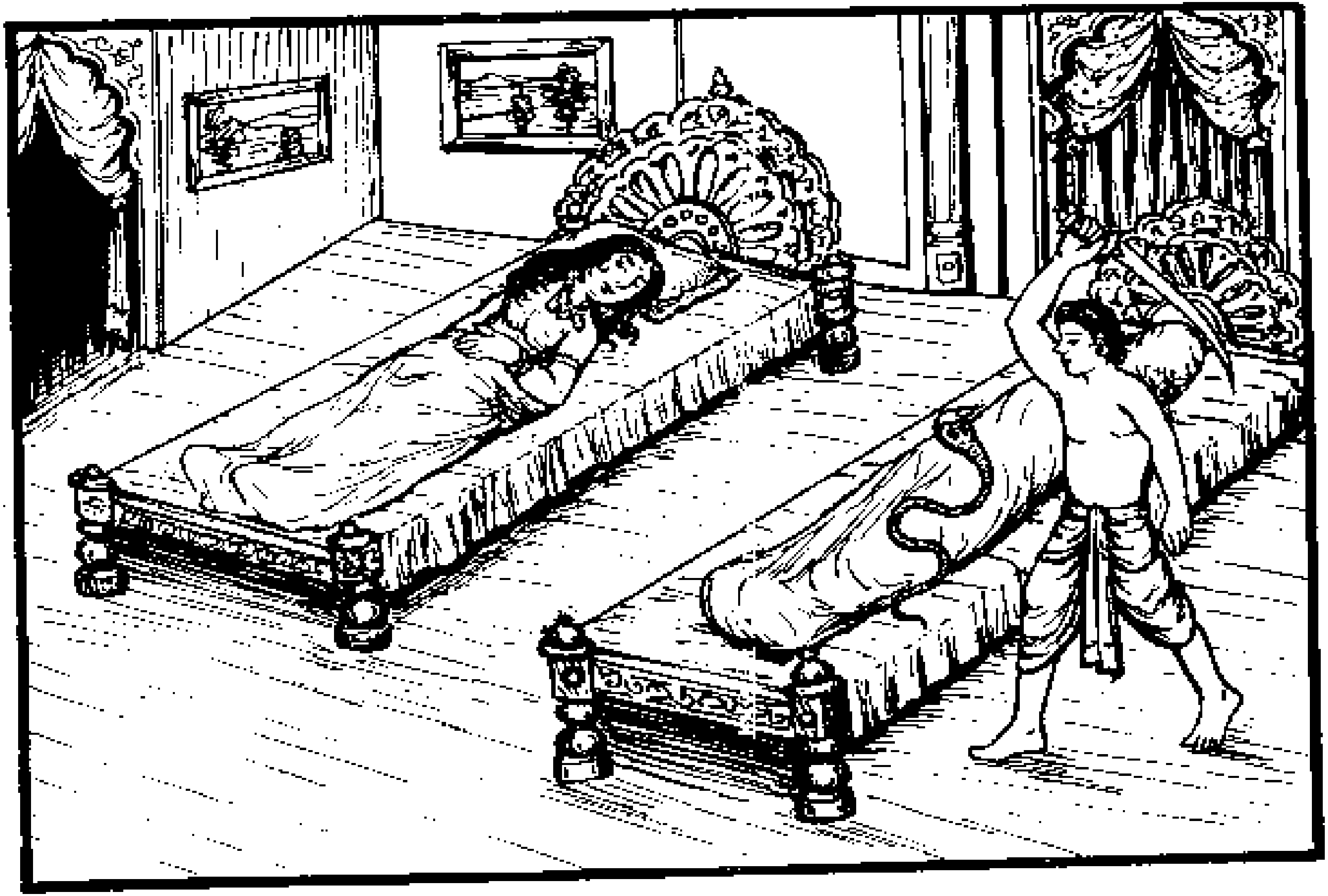

राजकुमारी के मुख से निकला सर्प जैसे ही शव पर फण मारने लगा कुमार उसे मारते हुए

तदालोक्य स्मितं तेन मनाक् विदित हेतुना।
निर्जगाम ततो मन्दं च दनाबुद्भटाफरणा ॥ ४५ ॥

उसे देख कुमार मुस्कुराया कुछ हेतु उसे विदित हो गया इसी से प्रसन्न हुआ, उसी क्षण विशाल फणधारी नागराज धीरे-धीरे उसके मुंह से बाहर निकला ॥ ४५ ॥

क्रमेण च ततः काले काल दण्ड इवापरः।
निष्चक्राम महाभोगो भुञ्जाक्षो भीषणफणो ॥ ४६ ॥

उस समय वह साक्षात् दूसरा यमराज ही था वह क्रमशः भीषण नाग भोजन के लिए इधर-उधर संचार करने लगा ॥ ४६ ॥

तत्तल्पतः समुत्तीर्य समारुह्यापरे शनैः।
दशतिस्म शिरोदेशे यावन्तत्र स्थितं शवम् ॥ ४७ ॥

तावदागत्य वेगेन निहतो निर्दयोज्भितः।
तथा यथा पपातासौ सो ष्टखण्डो महीतले ॥ ४८ ॥

धीरे से कुमारी की शैय्या से उतरा और दूसरी शैय्या पर जा चढ़ा, उस पर स्थित शव के शिर पर जैसे ही उसने फण मारा कि उसी समय सचेत सावधान कुमार ने तलवार की तीक्ष्ण धार से निर्दय हो उसे मार डाला, आठ टुकड़ों में विभक्त हुआ वह सर्पराज भी भूमि पर जा गिरा। अर्थात् उसके ८ टुकड़े कर डाले ॥ ४७-४८ ॥

भूषा करण्डिका मध्य वसिनं तं विधाय सः।
अपनीय शवं कोशस्थापितासीः सुखं स्थितः ॥ ४९ ॥

उसने कुमारी के आभूषणों का पिटारा उठाया और उसमें उन सर्प खण्डों को बन्द कर रख दिया। शव को वहाँ से हटा दिया। तलवार को म्यान में रख दिया। स्वयं कृत कर्म सुख से विराजमान हो गया अर्थात् आराम से सो गया ॥ ४९ ॥

कन्यकापि गते व्याधौ सुखिताभूत् कृशोदरी।
सुष्वाप च समुच्छ्वास निराकुल तनुस्तदा ॥ ५० ॥

व्याधि विहीन कन्या भी सुख निद्रा में निमग्न हो गई। वह कृशोदरी

आनन्द से सोती रही क्योंकि वेदना का शमन हो चुका था अतः गहरी निद्रा में निराकुल हो सोती रही ॥ ५० ॥

प्रबुद्धाथ ततः प्रातः पवनेन धुतांशुका ।
नीलाब्ज रेणु गर्भेण रस वलय मुधा स्त्रियाम् ॥ ५१ ॥

प्रभात काल हुआ । शीतल पवन से उसके वस्त्र पताका से उड़ने लगे मानों उसे जगा रही हो पवन । नील कमलों की पराग वायु में मिश्रित हो स्त्रियों के श्रम को अपनय कर रही थी ॥ ५१ ॥

उत्थिता चिन्तयामास किमिदं ननु कारणम् ।
सुखितानि ममाङ्गानि येनाभूदुदरं लघु ॥ ५२ ॥

उसी समय राजकुमारी की निद्रा भंग हुयी । आज उसे तन्द्रा नहीं थी अपितु स्फूर्ति थी वह विचारने लगी "क्या कारण है कि मेरे समस्त अङ्गों में सुख संचार हो रहा है, उदर भी हल्का हो गया—पतला हो गया ॥ ५२ ॥

उत्साह कोऽपि सम्पन्नो गतो व्याधि दुरन्तकः ।
दुःखान्त दायको नून मयञ्चात्र महाद्भुतः ॥ ५३ ॥

आह ! यह पुरुष कोई उत्साह सम्पन्न है, इसी के प्रभाव से मेरी व्याधि नष्ट हुयी है । दुरन्त, दुखान्त मेरा रोग दूर करने वाला निश्चय से यही अद्भुत महानुभाव है ॥ ५३ ॥

सत्येव नृत्व सामान्ये केचिदेवं विधा भुवि ।
परोपकारिणः सन्ति ग्रहाणां भानुमानिव ॥ ५४ ॥

संसार में इस प्रकार के पराक्रमी परोपकारी कुछ ही जन होते हैं । वे रवि किरणों के समान अपने गृहों का उद्योतन करते हैं ॥ ५४ ॥

किञ्चास्य दर्शनादेव ममानन्द स्तथाजनि ।
यथामृत रसेनेव संसिक्ता सर्वतस्तनुः ॥ ५५ ॥

वस्तुतः इस विभूतिरूप मानव को देखते ही मुझे इतना आनन्द हुआ मानों अमृत रस से ही मेरा सम्पूर्ण शरीर अभिसिंचित कर दिया गया हो ॥ ५५ ॥

विचिन्त्यति प्रपच्छासौ प्राञ्जलि र्जन वल्लभम् ।
स स्मिता तं स लज्जा च प्रसन्नाधीर लोचना ।। ५६ ।।

कुमार वहीं चुपचाप बैठा उसकी चेष्टाओं को निहारता रहा। उसी समय कौतुक भरी विचार निमग्ना कुमारी ने हाथ जोड उस विश्व प्रिय कुमार से पूछा। उस समय उसका मुख लज्जा से अरुण हो गया, अधीर हो गयी, सस्मित कुमार ने उसे देखा ।। ५६ ।।

नाथानुमान तो ज्ञातोऽनुभावस्तव यद्यपि ।
किं वृत्तमद्य यामिन्यां तथापीदं निवेदय ।। ५७ ।।

साहस कर बोली "हे नाथ यद्यपि अनुमान से रात्रि का वृत्तान्त मुझे ज्ञात हो गया है तो भी आप कृपा कर स्पष्ट बतलाइये" ।। ५७ ।।

तेनावाचि स्वमेवात्र विज्ञासु तनु किं ब्रुवे ।
जानामि किन्तु श्रवणं श्रोतु चेत: समुत्सुकम् ।। ५८ ।।

कुमार बोला, मैं क्या बताऊं ? आपका शरीर ही जता रहा है, मैं समझता हूँ आपका स्वास्थ्य इस समय पूर्ण लाभ प्राप्त कर चुका है जिसे तुम्हारा मुख कमल कह रहा है। फिर भी तुम सुनने को उत्सुक हो तो सुनो ।। ५८ ।।

यद्येवं दृश्यतां मुग्धे स्वालंकार करण्डिका ।
सामुद् घाटयते यावत्तावद्दृष्टो भुजंगम: ।। ५९ ।।

यदि रात्रि की घटना ज्ञात करना चाहती हो तो हे मुग्धे ! अपने अलंकारों का पिटारा खोलकर देख लो, जैसे ही उसने करण्ड को उघाडा कि भयंकर विषधर दिखाई पड़ा ।। ५९ ।।

सर्प सर्पेति जल्पन्ती सा ततोऽपसृता जवात् ।
माभैषी रिति तेनोक्तं विशालाक्षी विचेतन: ।। ६० ।।

निरीक्षण करते ही ओह, सर्प-सर्प इस प्रकार चीखती उससे शीघ्र ही दूर भागी। विहँस कर कुमार ने कहा हे विशाल नयने भय मत करो, डरो मत वह तो अचेतन है मरा पड़ा है ।। ६० ।।

विश्रब्धा श्रास्ततस्तस्या स्तेना कथियथा विधि ।
वृत्तान्तं स्तिमिताक्षी सा श्रौषी विधुवती शिर: ।। ६१ ।।

इस प्रकार सुनकर वह विश्वस्त हो गई भय मधुर हास में परिणत हो गया। पुनः यथाविधि समस्त वृत्तान्त कुमार ने उसे सुनाया। वहभी शिर धुनती मुस्कुराने लगी। दोनों ही प्रसन्न हुए ॥ ६१ ॥

अन्तरेऽत्र समायातः तद्रक्षक बुभुक्षया।
तदध्यक्ष स्तथालोक्य समुवाच महीपतिम् ॥ ६२ ॥

इसी समय उसका रक्षक भूख से व्याकुल वहाँ आ पहुँचा, किन्तु कुमारी को निरोग देख दौड़ता हुआ राजा के पास गया और नृपति से बोला ॥ ६२ ॥

यथा वर्द्धस्व राजेन्द्र दिष्ट्या शोष विवर्जिता।
प्रभूत सुता महावीरः कुशली सा च तिष्ठति ॥ ६३ ॥

हे राजेन्द्र ! आप वृद्धि को प्राप्त हों, राजश्री बढ़े, देखो आपकी सुकुमारी कन्या भीति शोष रहित हो गई है। वह महावीर के साथ सकुशल विराज रही है ॥ ६३ ॥

इत्याकर्ण्य अगात्मासौ दत्वास्मै प्रचुरं धनम्।
आरुह्य हस्तिनं वेगां ज्जनैः कतिपयै रसौ ॥ ६४ ॥

यह सुसमाचार सुन राजा परम प्रमोद से उछल पडा। वह शीघ्र ही गज पर सवार हुआ। अपने कुछ लोगों के साथ वहाँ आया और यथा समाचार पुत्री को शान्त एवं सुखी पाया। उसी समय कुमार को प्रचुर धन राशि प्रदान कर सम्मानित किया ॥ ६४ ॥

अभ्युत्तस्थे कुमारेण दृष्टि गोचरमागतः।
भूपस्तेनाऽपि हृष्टेन सप्रसादं विलोकितः ॥ ६५ ॥

कुमार ने भी सम्मुख आकर नृपति का स्वागत किया। आनन्द से राजा को निहारा ॥ ६५ ॥

उपविष्टस्ततो राजा तां ददर्श स्व देहजाम्।
राहुनुनेव निर्भुक्तां पार्वणेन्दु तनु यथा ॥ ६६ ॥

संतुष्ट एवं प्रमुदित राजा आराम से यथा स्थान बैठा और अपनी देहजा–पुत्री को देखा मानों राहु के ग्रास से बच कर पूर्णिमा का चाँद ही उदित हुआ हो ॥ ६६ ॥

मुहुर्मुर्स तनूजाया मुहुस्तस्य महामतेः ।
अप्ति जगाम नो पश्य स्तवानो नरनायकः ॥ ६७ ॥

वह विस्मय से स्फारित नेत्रों द्वारा कभी पुत्री को और कभी कुमार को बार-बार देखने लगा । उस महात्मा कुमार को बारम्बार निहार कर उसे तृप्ति ही नहीं हो रही थी । वह नर नायक हतप्रभ सा सतृष्ण नेत्रों से उन्हें देखता ही रह गया ॥ ६७ ॥

पप्रच्छ च महा बुद्धे किमद्याजनि चेष्ठितम् ।
रात्रावत्र कुमारेण दर्शितं पन्नगाविकम् ॥ ६८ ॥

विस्मय से आतुर राजा ने आश्वस्त हो कुमार से निवेदन किया, हे महा बुद्धिमन् ! आज रात्रि को क्या घटना हुयी, किस प्रकार आप जयशील हुए, कन्या रोगमुक्त किस प्रकार की इत्यादि प्रश्न पूछे । उत्तर में विनम्र कुमार ने भी रात्रि में घटित घटना के साथ करण्डी में स्थापित नागराज को दिखलाया, शव को दिखाया एवं किस प्रकार तलवार के वार से उसे प्राण विहीन किया इत्यादि वृत्तान्त ज्ञात कराया ॥ ६८ ॥

कथितञ्च ततः सर्वं कुमार्या जनकाय तत् ।
अहो चित्रम संभाव्यं विधे विलसितं भुवि ॥ ६९ ॥

उस समय सभी जनपद राजा से कहने लगे अहो संसार में भाग्य की लीला बड़ी विचित्र है शुभ रूप भाग्योदय होने पर असम्भव कार्य भी सुलभता से सम्भव हो जाते हैं ॥ ६९ ॥

उपकारः कृतोऽनेन सोयं मम महात्मना ।
कुल कीर्तिः प्रतापो मे राज्यं येनाशु दीपितम् ॥ ७० ॥

इस महा पुण्यशाली सत्पुरुष ने मेरा महान उपकार किया है, मेरी कुलकीर्ति, प्रताप और राज्य की रक्षा की है । आज मेरा राज्य वैभव और जीवन इसके द्वारा दीपित हुआ है ॥ ७० ॥

ददाम्यस्मै सुतामेनां वल्लीमिव मनोभुवः ।
अतोऽपि गुण संभार भूषितः को भविष्यति ॥ ७१ ॥

उपर्युक्त भावों से अभिव्याप्त राजा विचार करता है "यह मेरी

कन्या कामदेव की लता समान है इसे इस कुमार को ही देना चाहिए। भला इससे बढ़कर इस पुत्री की शोभा बढाने वाला और कौन गुणों का भण्डार नर रत्न होगा" ? ॥ ७१ ॥

कुमारस्य मुखे न्यस्य संहृता तरला स्थिरा।
अलक्ष प्रसरा दृष्टि र्यथास्याश्च विकासिनी ॥ ७२ ॥

यह सोचकर उसने कुमार को अपलक दृष्टि से देखा, अहो कितनी सुन्दर तरल इसकी दृष्टि है, स्थिर चित्त है, मुखकमल विकासिनी है, अलक्ष प्रसारिणी है, सरल है ॥ ७२ ॥

यथा गण्डस्थलोद्भूता मन्दाः स्वेदोद बिन्दवः।
म्लान रागाः समुच्छ्वासो र्यथा चाधर पल्लवः ॥ ७३ ॥

गंडस्थल पर अद्भूत स्वेद बिन्दु कितने प्रिय हैं, उच्छ्वासो से मानों कोमल अधर पल्लव इसके म्लान हो गये हैं। लाली फीकी सी हो गई है ॥ ७३ ॥

वाग्वृत्तिः स्खलिताकम्प रोमाञ्चो सावधानता।
सखीवस्यास्तथा व्यक्तं कुमारे अनि मानसम् ॥ ७४ ॥

वचन प्रणाली स्खलित सी है। शरीर पर रोम राजि-रोमाञ्चित तनुरूह मानों इसकी सावधानता के प्रतीक हैं। यह कन्या इसके मानस में सखिवत् प्रीति प्राप्त करेगी ॥ ७४ ॥

यथा चिन्तित मेवेदं संपन्नं मम साम्प्रतम्।
समाकृष्टोऽथवा पुण्यैरयम स्याः समागतः ॥ ७५ ॥

मैं जो चाहता था आज वही इस समय मेरे सामने उपस्थित है। अथवा इस पुत्री के पुण्य से आकर्षित हुआ यह स्वयं आ उपस्थित हुआ है ॥ ७५ ॥

तथा प्रत्युप कारोयमेसे नास्य भविष्यति।
कन्या रत्न मिदं चैतत् सम्बन्धेनैव बन्धुरम् ॥ ७६ ॥

मैं समझता हूं इसके उपकार का प्रत्युपकार अन्य किसी प्रकार नहीं हो सकता, कन्या रत्न समर्पण करने से ही हो सकता है। फिर यह युग्म सुन्दर भी है ॥ ७६ ॥

विधिरेवाथवा विश्व वैचित्र्यं विस्मयावहम् ।
विदधाति नरस्तत्र केवलं याति साक्षी ताम् ॥ ७७ ॥

अधिक क्या, भाग्य ही संसार में अलौकिक विचित्र आश्चर्य जनक क्रियाओं को सम्पादन किया करता है मनुष्य तो केवल मात्र उसमें निमित्त होता है, साक्षी बन जाता है ॥ ७७ ॥

इत्यादि बहु संभाव्य कुमाराय कृशोदरी ।
वितीर्णा भूभुजा तस्मै सोद्यमं स्तोपरोधतः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार अनेकों तर्क-वितर्कों से निश्चय कर राजा ने उस कृशोदरी पुत्री को सानुरोध कुमार को देने का निश्चय कर लिया ॥७८॥

विधाय विधिना तस्याः कुमारः पाणी पीडनम् ।
पञ्चेन्द्रिय सुखं तस्थौ भुञ्जानः सहितस्तया ॥ ७९ ॥

शुभ मुहूर्त, लग्न और दिन में नृपति ने अपनी कन्या का उस बुद्धिमान, गुणशाली, रूपयौवन सम्पन्न कुमार के साथ सोल्लास पाणिग्रहण संस्कार किया । कुमार भी उस अद्भुत सुन्दरी राजकुमारी को पाकर परम संतुष्ट हुआ । राज प्रासाद में ही उसके साथ पञ्चेन्द्रिय जन्य सुन्दर भोगों को भोगने लगा ॥ ७९ ॥

छायेव सापि तस्याभूत विभिन्ना मनस्विनः ।
चक्रेते नापि विज्ञात जैन धर्मं क्रमादिति ॥ ८० ॥

जिनदत्त श्रेष्ठ श्रावक था, जिनधर्म पर उसकी अकाट्य श्रद्धा थी किन्तु नृपति वैष्णव धर्मी था । अतः कन्या भी उसी धर्म की अनुयायी थी । परन्तु पतिभक्ता होने से छायावत् उसका अनुकरण करती थी । पति के अभिप्रायानुसार उसकी क्रियाएँ थीं । एक दिन कुमार ने कहा प्रिय, जैन धर्मानुसार चलना योग्य है । उसने कुमार से जैन तत्त्वों को ज्ञात किया ॥ ८० ॥

मिथ्यात्वं त्यज तन्वंगी संसारार्णव पातकम् ।
भज भव्य जनाभीष्टं सम्यक्त्वं मुक्ति हेतुकम् ॥ ८१ ॥

एक दिन कुमार समझाने लगा, हे तनुदरी, तुम मिथ्यात्व का त्याग करो, यह मिथ्यात्व संसार रूपी सागर में डुबोने वाला है । सम्यग्दर्शन

भव्य जीवों को मुक्ति दिलाने वाला है उसे स्वीकार कर-सेवन करो समस्त अभीष्टों की सिद्धि कराने वाला है, तुम इसे धारण करो ॥८१॥

अदेवे देवता बुद्धिरगुरौ गुरु सम्मतिः ।
अतत्वे तत्व संस्था च तथा वादी जिनेश्वरैः ॥ ८२ ॥

अदेव में देव बुद्धि रखना, अर्थात् रागी-द्वेषी को देव मानना, कुगुरु या अगुरु को गुरु मानना, अतत्व में तत्व श्रद्धा करना यह मिथ्यात्व है। ऐसा जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा गया ॥ ८२ ॥

सुभ्रू विभ्रांत चेतस्का देहिनो देवता दिषु ।
वासयन्ति हि सप्तापि नरकाणि निरन्तरम् ॥ ८३ ॥

संसार में जो प्राणि देवता आदि के विषय में इस प्रकार भ्रान्त चित्त हैं अर्थात् विपरीत मानता रखते हैं, वे निरन्तर सात नरकों के पात्र होते हैं, नरक पर्याय में जाते हैं ॥ ८३ ॥

लोकद्वयेऽपि यानीह सन्ति दुःखानि सुन्दरी ।
जायते भाजनं जन्तु स्तेषां मिथ्यात्व मोहितः ॥ ८४ ॥

हे सुन्दरी उभय लोक-इह लोक और पर लोक में जितने भी दुःख हैं विपत्तियाँ हैं वे सर्व संकट प्राणियों को मिथ्यात्व के उदय से प्राप्त होते हैं ॥ ८४ ॥

मिथ्यात्व से मोहित जीव चारों गतियों के अपार दुःखों के भाजन होते हैं।

निःशेष दोष निर्मुक्तो मुक्ति कान्ता स्वयम्बरः ।
लोका लोको ल्लसज्ञानो देवोऽस्तीह जिनेश्वरः ॥ ८५ ॥

हे प्रिय ! सुनो, जिनमें जन्म मरणादि दोष नहीं हैं, जो सम्पूर्ण दोषों से रहित हैं, अपने पूर्णज्ञान-केवलज्ञान द्वारा लोकालोक को युगपत देखते-जानते हैं एवं मुक्ति रमा के स्वयंवर मण्डप-समवशरण में विराज-मान हैं, वे ही यथार्थ-सच्चे देव हैं ॥ ८५ ॥

अन्ये ततो विशालाक्षी राग द्वेषादि कल्मषैः ।
दूषिता न भवन्त्याप्ताः कृतकृत्या विरागिणः ॥ ८६ ॥

हे कान्ते वीतराग सर्वज्ञ प्रभु के अतिरिक्त जो राग-द्वेष कल्मष से मलीमष हैं, गदा दण्डादि धारण किये हैं, रमा भी-अर्द्धांगिनी है, जो वैराग्य विहीन हैं वे कभी भी देव नहीं हो सकते। हे विशाल नेत्रे तुम दृढता पूर्वक इसे समझो ॥ ८६ ॥

अतस्त्वथा प्रतीहि त्वं देवानमधिदेवतम्।
चराचर जगज्जन्तु कारुण्यं स्वामिनं जिनम् ॥ ८७ ॥

हे वरानने ! मन वचन काय से देवाधिदेव अरहंत भगवान को देव समझो, वे समस्त तीन लोक के चराचर प्राणियों का कल्याण करने वाले करुणा निधान हैं, सबके स्वामी हैं, इस प्रकार दृढ प्रतीति करो ॥ ८७ ॥

धर्मं स्तद्वचनाम्भोज निर्गतः सुगति प्रदः।
यस्य मूलं समस्तार्थ साधिका करुणा मता ॥ ८८ ॥

उन्हीं के मुखारविन्द से निकला हुआ उत्तम धर्म है, सुगति को देने वाला है। इस धर्म का मूल दया कहा है। यह धर्म समस्त अर्थों का सफल साधक है ॥ ८८ ॥

कृतं किमपि पूर्णेन्दु वदने दयथा समम्।
विद्धं रसेन वा ताम्रं सर्वं कल्याण कारकम् ॥ ८९ ॥

जिस प्रकार रसायन के योग से तांबा भी कल्याण अर्थात् सुवर्ण हो जाता है उसी प्रकार जिन प्रणीत धर्म-करुणामयी धर्म से हे पूर्णेन्दु वदने (चन्द्रमुखी) सर्व कल्याण प्राप्त होते हैं। संसार में कुछ भी सार नहीं जो धर्म से प्राप्त न हो ॥ ८९ ॥

उद्देशाद्देवतादीनां कृतोऽपि प्राणिनां वधम्।
नरकाय गुडोन्मिश्रं विषं मारयते न किम् ॥ ९० ॥

हे देवि ! सुनो, देवता आदि के उद्देश्य से किया हुआ प्राणिवध भी प्राणियों को नरक का कारण होता है। क्यों कि विष मिश्रित गुड क्या प्राण नाशक नहीं होता ? प्राण घातक ही होता है। उसी प्रकार धर्म के नाम पर की गई हिंसा भी दारुण नरक यातना देने वाली होती है ॥ ९० ॥

जायते येन येनेह हेतुनाऽसुमतां हृतिः।
तत्तं दुर्जये बाले त्वं येन स्यान्निस्तुषो वृषः ॥ ९१ ॥

हे बाले! संसार में जिन जिन हेतुओं से जीवों का घात होता है उन-उन समस्त कारणों का त्याग करो जिससे तुम्हें निर्दोष अहिंसा धर्म की प्राप्ति हो। यही धर्म निर्दोष है ॥ ९१ ॥

अत्र चामुत्र सौख्यानि भुञ्जते यानि देहिनः।
कृपा कल्प लता तानि सूते सर्वाणि सेविता ॥ ९२ ॥

तीनों लोकों में जीवों को जो भी सुख भोग मिलते हैं या हो सकते हैं उन समस्त सुखों को यह धर्म रूपी कल्पलता सेवकों को प्रदान करती है। अहिंसामयी धर्म से समस्त सांसारिक सुख उत्पन्न होते हैं ॥ ९२ ॥

विहायसश्च सीदन्ति भानु नरौ भू रंगुलैरियम्।
शक्या: सुमुखि संख्यातुं न गुणा: करुणा श्रया: ॥ ९३ ॥

हे प्रिय, कदाच सुविस्तृत गगन को एवं भूमि-मण्डल को अंगुलियों से मापा जा सकता है किन्तु करुणा के आश्रय से प्रसूत गुणों की गणना करना अशक्य है। अभिप्राय यह है कि क्वचित् कदाचित असीम आकाश भू को माप कर ससीम किया जा सके परन्तु अहिंसामयी धर्म के निमित्त से उत्पन्न गुणों की गणना करना शक्य नहीं है ॥ ९३ ॥

करभोरु परित्यज्य प्राणि त्राणं न विद्यते।
धर्म: शर्मकर: प्रोक्त: न च सोन्यैर्जिनेन्द्रत: ॥ ९४ ॥

हे दीर्घ उरु! संसार में प्राणि रक्षा से बढ़कर शान्ति देने वाला कोई भी अन्य धर्म नहीं है। इस धर्म का प्रतिपादन जिनेन्द्र देव के सिवाय अन्य किसी ने भी नहीं किया ॥ ९४ ॥

नानानुष्ठान युक्तापि नादया शस्यते क्रिया।
कामिनीव धृताशेष भूषणा कुलटा किल ॥ ९५ ॥

कितने जप तप व्रत नियमादि अनुष्ठान क्यों न हों यदि दया रहित हैं तो प्रशंसनीय नहीं हो सकते। क्या कुलटा नारी पतिव्रता कामिनी के समान वेशभूषा धारण कर शोभा पा सकती है? कभी नहीं। उसी प्रकार जीव दया विहीन व्रतादि अनुष्ठानों का कोई महत्व नहीं ॥ ९५ ॥

अतः जिनेन्द्र देव ही सच्चे देव हैं और उनके द्वारा प्रणीत अहिंसा धर्म ही उपादेय—ग्राह्य है।

भव भोग शरीराणा मसारत्वं विबुद्धय्ये।
सन्त्यज्य तृण वल्लक्ष्मी नैर्ग्रन्थ्य व्रत माश्रिताः ॥ ९६ ॥

इसी प्रकार सच्चे गुरु वे ही हैं जो संसार शरीर और भोगों से सर्वथा विरक्त हैं, इनके असार स्वभाव को जानकर जिन्होंने सर्वथा ममत्व का त्याग कर दिया है। सम्यक् प्रकार तृण के समान लक्ष्मी का परित्याग कर दिया एवं निर्ग्रन्थ भेष धारण किया है ॥ ९६ ॥

प्राणात्ययेऽपि नो येषा जीव हिंसा वचो नृतं।
चुरा रामा रिरंसा वा जिघृक्षा हृदि जायते ॥ ९७ ॥

जिनके स्वप्न में भी, प्राण नाश होने पर भी हिंसाभाव, असत्य वचन, परवस्तु ग्रहण-चोरी, मैथुन भाव हृदय में नहीं होता वे ही महाव्रती परम गुरु हैं। अर्थात् अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतों का सतत पालन करने वाले दिगम्बर मुनिराज ही सद्गुरु हैं ॥ ९७ ॥

लाभा लाभारि मित्रेषु लोष्ठ काञ्चनयो रपि।
समभावाः सुखे दुःखे निस्पृहाः स्वतनावपि ॥ ९८ ॥

जो लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र, पाषाण-सुवर्ण, सुख-दुःख में समभाव धारण करते हैं, अपने शरीर में भी ममत्व नहीं करते वे यथार्थ गुरु हैं ॥ ९८ ॥

अनेक जन्म संभूतं पाप पङ्कं शरीरिभिः।
यत् पाद पद्म सत्तीर्थ सेवया क्षाल्यते क्षणात् ॥ ९९ ॥

जिनके पाद-पङ्कज रूपी तीर्थ के सेवन करने से प्राणियों के अनेक जन्मों में संचित पाप पङ्क क्षणभर में धुल जाती है ॥ ९९ ॥

भुञ्जते पाणि पात्रेण शेरते भुवि भासते।
वनादौ विधि बद्ध संध्यानेनाध्ययनेन च ॥ १०० ॥

वे द्विविध परिग्रह त्यागी गुरुदेव, पाणि पात्र में आहार भोजन-पान

करते हैं, शुद्ध भूमि पर शयन करते हैं, वनादि निर्जन प्रदेश में निवास करते हैं, सतत ध्यान और अध्ययन में बद्धचित्त रहते हैं ।। १०० ।।

येकरालंबनं सम्यक् संसारार्णव मज्जतां ।
जगतां जात रूपास्ते गुरवो गजगामिनि ।। १०१ ।।

जो संसार सागर में डूबते प्राणियों को सम्यक् करावलम्बन देते हैं, संसार में जातरूप धारी महा साधु हो सच्चे गुरु हैं । हे गज गामिनी । उन्हीं की उपासना करो, सेवा-भक्ति करो ।। १०१ ।।

काम क्रोध मदोन्माद मोहाख्या विषयाधिका: ।
यान्तो नयन्ति भक्तां स्तु गुरवस्तेना पर्वेहि ।। १०२ ।।

इन श्री गुरुओं के पद कमलों में नमन करने से काम, क्रोध, मद, उन्माद, मोह, विषय मूर्च्छा आदि नष्ट हो जाते हैं । जो भक्तिपूर्वक परम सद्गुरुओं की उपासना करता है वह उन्हीं के समान, काम कोपादि से रहित हो गुणशाली हो जाता है इसीलिए उन्हें "गुरु" इस सार्थक नाम से सम्बोधित किया जाता है । कहा भी है जो शिष्यों के दोषों को निगल जाय-पचा जाय वह गुरु कहलाता है ।। १०२ ।।

देव धर्म गुरुनित्थं मन्यमाना मनस्विनि ।
लोक द्वयेऽपि सौख्यानां भाजनं भविता सदा ।। १०३ ।।

हे मनस्विनि ! जो इस प्रकार देव, धर्म और गुरु को यथार्थ समझता है, उन्हीं में भक्ति श्रद्धा रखता है वह इस लोक और पर लोक दोनों ही लोकों में सदा समस्त सुखों का भाजन होता है ।। १०३ ।।

निबन्धनमिदं सर्वं वृतानां दर्शनं प्रिये ।
विनैतेन विमूल: स्यात् समस्त नियमद्रुम: ।। १०४ ।।

ये समस्त लक्षण जो तुम्हें कहे सम्यग्दर्शन के कारण हैं । हे प्रिये इस प्रकार की श्रद्धा बिना किये गये सकल यम नियम निर्मूल हैं । यम नियम पादप हैं तो सम्यक्त्व उसकी जड़ । जिस प्रकार जड़ के बिना वृक्ष का अस्तित्व असंभव है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रहित ज्ञान-चारित्र निरर्थक हैं ।। १०४ ।।

विशेषतस्तु नासक्ष्यं मदिरा मांस माक्षिकम् ।
अनन्त जीव संहारकारि पापैक साक्षिकम् ।। १०५ ।।

हे प्रिय ! तीन मकार-मदिरा, मांस और मधु का सर्वथा त्याग करना चाहिए अर्थात् प्राणान्त होने पर भी इनको नहीं खाना चाहिए। ये अनन्त जीवों के पिण्ड होने से उनके नाश के कारण प्रत्यक्ष हैं। एक मात्र पाप के मूल हैं। पाप वर्द्धक हैं ।। १०५ ।।

जीव योनि समुत्थानं फलानामपि पञ्चकम् ।
मुञ्च भुक्ति निशायाञ्च चरैतानि व्रतानि च ।। १०६ ।।

पाँच उदम्बर फल जीव योनि के उत्पत्ति स्थान हैं। अस्तु बड़, पिप्पलफल, ऊमर, कठूमर और पाकर फल (अंजीर) का सर्वथा त्याग करो-भक्षण नहीं करने का व्रत ग्रहण करो। साथ ही रात्रि भुक्ति का भी त्याग करो। ये श्रावक के चिन्ह हैं। रात्रि भोजन से अहिंसा व्रत का नाश होता है, दया धर्म भ्रष्ट होता है पापास्रव होता है। अस्तु, रात्रि में कभी भी चारों प्रकार का आहार नहीं करना चाहिए। इस प्रकार तुम श्रद्धा से इन व्रतों का आचरण करो ।। १०६ ।।

जीव घाता नृतस्तेय पुरुषान्तर सेवनम् ।
परिग्रह ममाञ्च त्यज रागीव लोचने ।। १०७ ।।

हे कमल नयनी ! हिंसा, झूठ, चोरी, परपुरुष सेवन (अब्रह्म) का त्याग करो। परिग्रह संचय की अनावश्यक आकांक्षा का त्याग-व्रत धारण करो। ये पाँच अणुव्रत अमूल्य रत्न हैं इनकी रक्षा सावधानी से करनी चाहिए ।। १०७ ।।

पात्रं सर्व श्रियां पात्र दानं भोगोप भोगगाम् ।
संख्यामसंख्य दुर्भाव भेदिनीं धेहि मानसे ।। १०८ ।।

सर्व प्रकार के भोगों-पभोगों की प्राप्ति के कारण भूत उत्तम पात्र दान को प्रतिदिन करो। भोगो-पभोग प्रमाण भी करो। दान असंख्य दुर्भावों का भेदन करने वाला है। लोभ का नाशक है ऐसा मन में निश्चय करो।। १०८ ।।

सर्व संगं परित्यज्य संस्मृत्य गुरु पञ्चकम् ।
आराधना विधानेन प्रान्ते प्राणोज्झनं मतम् ।। १०६ ।।

इस प्रकार व्रतों का पालन कर अन्त काल में सकल बाह्य आभ्यन्तर चौबीस प्रकार के परिग्रह का त्याग कर पंच परमेष्ठी का आराधन-स्मरण करते हुए विधिवत् सल्लेखना पूर्वक प्राण छोड़ना चाहिए । इसे आराधना व्रत कहते हैं ।। १०६ ।।

दिग्देश नियमं दुष्टा नर्थं दण्डोज्झनं कुरु ।
सामायिकं हताघौघं प्रोषधं दुःख नाशकम् ।। ११० ।।

इन पाँच अणुव्रतों के समान अन्य तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत हैं । जीवन्त पर्यन्त दशों दिशाओं में गमनागमन की सीमा करना दिग्व्रत है । काल की मर्यादा कर दिग्व्रत में संकोच करना अर्थात कुछ समय के लिए प्रतिदिन आने-जाने का नियम करना देशव्रत है । अप्रयोजनीय, अनुपयोगी-व्यर्थ के कार्यों का त्याग करना अनर्थदण्डव्रत है । इन तीनों दिग्व्रतों को भी धारण करो । अनन्त पाप समूह का घातक सामायिक शिक्षा व्रत स्वीकार करो, सम्पूर्ण दुःखों का नाशक प्रोषध या प्रोषधोप वास करना चाहिए ।। ११० ।।

एतेषु गुण शिक्षाख्या नियमा द्वादश व्रतम् ।
पञ्च त्रयश्च चत्वारो गृहस्थानां जिनोदिताः ।। १११ ।।

इस प्रकार इनमें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारह व्रत श्रावकों को जिनेन्द्र भगवान ने उपदिष्ट किये हैं । अर्थात् १२ व्रतों का पालक ही श्रावक कहलाता है ।। १११ ।।

गुरूणां वचनादेते तवाख्याता मया प्रिये ।
पश्चात्ते दापयिष्यामि विशेषा त्गुरु सन्निधौ ।। ११२ ।।

हे प्रिय, गुरुदेव के वचनानुसार मैंने तुम्हें ये व्रत बतलाये । इस समय इन्हें धारण करो बाद में गुरु साक्षी में उनके सान्निध्य में विशेष रूप से धारण कराऊँगा ।। ११२ ।।

इत्यादि सा कुमारेण जिनधर्म विशुद्ध धीः ।
ग्राहिता सापि जग्राह तं तथेति त्रिधा तदा ।। ११३ ।।

इस प्रकार विशुद्ध बुद्धि उस कुमार ने जिन धर्म का स्वरूप अपनी पत्नी–राजकुमारी को समझाया। उसने भी परम प्रीति से "इसी प्रकार है" कह कर त्रिकरण शुद्धि पूर्वक धारण किये ।। ११३ ।।

इत्थं तया निखिल सौख्य निधान धाम्ना ।
धन्य: समं कुतुक कोप कृता न्तरायम् ।।
सौख्यं स निविशति यावदित: कृतार्थं ।
स्तावच्चचाल सकलो वणिजां समूह: ।। ११४ ।।

इस प्रकार सम्पूर्ण सुख के निधान धर्म के धारक ही धन्य हैं। निरन्तराय वे दोनों अनुपम सुख अनुभव करने लगे। भाग्य से सर्व सम्पदा माता के समान सेवा करती है। इधर यह बड़भागी धर्म पुरुषार्थ पूर्वक पञ्चेन्द्रिय जन्य भोगों का अनुभव कर रहा था कि उसी समय सार्थवाह वणिक् जनों ने प्रस्थान की घोषणा की। चल पड़े ।। ११४ ।।

ज्ञात्वापि तेन भणितो नृपति: सहेतु ।
लोक: प्रयाति सकलोऽपि मम स्वदेशम् ।।
मां प्रेषयेति वचनेन नृप: स दु:ख ।
स्तस्मै समर्प्य तनयां स परिच्छदां ताम् ।। ११५ ।।

कुमार को भी यह समाचार ज्ञात हुआ। उसने राजा से प्रार्थना की कि "मेरे साथी वणिक् जन-समूह अपने देश को वापिस जा रहे हैं अत: मुझे भी भेजिये अर्थात् जाने की आज्ञा दीजिये"। कुमार की कामना सुनकर राजा को अतीव दु:ख हुआ तो भी लोक पद्धति के अनुसार उसे अनुमति प्रदान की। अपनी सुन्दर पुत्री को उसे समर्पण की। नाना पदार्थ एवं परिकर के साथ उन्हें विदा किया ।। ११५ ।।

षट् त्रिंशदस्ति भुवि यस्य सुवर्ण कोट्यामूल्यं ।
तदस्य किल कण्ठविभूषणं च ।।
दत्वा नृपेण बहुधा वसनादि जात ।
मालिङ्ग्य साश्रु नयनेन ततो विमुक्त: ।। ११६ ।।

छत्तीस करोड़ दीनार जिसका मूल्य है। ऐसे सुन्दर हार से पुत्री का कण्ठ शोभित किया। अर्थात् संसार में अनुपम हार उसे पहनाया। अन्य

नाना वस्त्रालङ्कार दिये। स्नेह पूरित हृदय से पुत्री का आलिङ्गन किया। अश्रुविगलित नयनों से किसी प्रकार विदा दी ॥ ११६ ॥

अन्योऽस्य राज्य परिवार जनः समग्रं।
रत्नः पुरेण च कुलाप चितिः कुमारः॥
आपृच्छ्य भूपति पुरस्सर सर्व लोकम्।
प्रापत्तटं जल निधेः स्वजनानिवर्त्य ॥ ११७ ॥

राज परिवार के अन्य जन प्रेम भरे उन्हें विदा करने को साथ-साथ चले। कुछ जन राजा की आज्ञा ले सागर तट पर आये। हमारे रत्न-संचयपुर को त्याग कर सूना कर कुमार जा रहे हैं। इस प्रकार प्रीतिभरे जन-समूह समन्वित हो गया ॥ ११७ ॥

माङ्गल्यं सकलं विधाय विधिना कृत्वार्जनं याचकम्।
पूर्णेच्छुं शुभ वासरे सह जनैस्तै सार्थं वाहादिभिः॥
आरूढो घन बद्धकेतु निकरं पोतं सपुण्ये जवात्।
मुक्ताः सोऽपि चचाल वारिधि जले मन्दानिल प्रेरितः ॥ ११८ ॥

समस्त माङ्गल्य विधि सम्पन्न हुयी। नाना आशीर्वाद साधुवाद एवं स्नेह मिलन के बाद कुमार ने याचकों को इच्छित वस्तु प्रदान कीं। शुभ दिन में अपने सार्थवाह साथियों के साथ जहाज में सप्रिया आरूढ़ हुआ। उस पोत के शिखर पर सुन्दर ध्वजा फहराने लगी। देखते ही देखते मन्द-मन्द पवन से प्रेरित यान सागर की लहरों के साथ आगे बढ़ने लगा ॥ ११८ ॥

इति श्रीमद् भगवद् गुणभद्र स्वामी विरचित श्री जिनदत्त चरित्र का चतुर्थ सर्ग समाप्त हुआ।

(पञ्चम—सर्ग)

अथ ते यान्ति पश्यन्तो यान पात्रेण वारिधिम् ।
क्वचित्सेवाल लता विद्धं द्वारं भूमिभृतामिव ॥ १ ॥

नौका बढ रही है । सागर का जल उछल रहा है । वे यात्री यान पात्रों द्वारा समुद्र की शोभा देखते हुए जा रहे हैं । कहीं-कहीं प्रचुर सेवाल समूह बेल लताओं से विद्ध हुआ पर्वत के समान प्रतीत होता था । उछलता जल भूधर सा मालूम पडता ॥ १ ॥

न्यायोपेत नरेन्द्राभं क्वचित् समकरं क्वचित् ।
तिमिराजित मत्यर्थं मुनीनामिव मानसम् ॥ २ ॥

तो कहीं समरूप होकर न्यायी राजा की शोभा को धारण कर रहा था । कहीं अंधकार का भेदन कर मुनिराज के मानस समान स्वच्छ प्रतीत हो रहा था ॥ २ ॥

अनेकान्तमिवात्यन्त बहुभंगो समाकुलम् ।
स मुक्ताहार मन्यत्र कान्ता स्तन तटोपमम् ॥ ३ ॥

नाना तरंगों के उत्थान पतन से अनेकान्त सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहा हो ऐसा प्रतीत हो रहा था । अर्थात् अनेकान्त सिद्धान्त मुख्य गौण कर वस्तु तत्त्व को यथार्थ प्रतिपादन करता है या प्रतिपादक की विवक्षा व अविवक्षानुसार वस्तु में रहने वाले अनेक धर्मों में से किसी को मुख्य और किसी धर्म को गौण कर प्रतिपादन करता है । उसी प्रकार यह सागर भी ज्वार भाटे फेन, बबूले आदि द्वारा नाना स्वभावों को यथाक्रम से प्रदर्शित कर रहा था । कहीं जल कणों का समूह रत्नहार मोतियों की माला सा जान पडता तो कहीं कान्ता के स्तनरूपी तट सा दिखलाई पडता ॥ ३ ॥

अधः स्थित महा मूल्य माणिक्यं शंखकादिकम् ।
दर्शयन्तं बहिर्भीत्या कृपणं वाधिना क्वचित् ॥ ४ ॥

जल के मध्यस्तल भाग में असंख्य रत्न, महा-मूल्यवान माणिक्य शङ्ख आदि भरे पड़े थे । वह उन्हें कृपण के समान कभी-कभी बाहर दिखला रहा था । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कोई कंजूस व्यक्ति

अपने अपरिमित धन को छिपा कर रखता है उसी प्रकार सागर भी अमूल्य रत्नों को अपनी क्रोड में छुपाये था। भयभीत सा यदा कदा उन्हें दर्शा रहा हो, ऐसा जान पड़ता था ।। ४ ।।

निर्यापक गिरा क्वापि मधुरस्वरं क्वचित् ।
कर्पूरादि द्रुमस्पर्शी सुगन्धायात मारुतम् ।। ५ ।।

कभी निर्यापक ध्वनि आती, कभी उत्सुक करने वाला स्वर सुनायी देता। उधर वायु के मन्द-मन्द झोंकों से कपूर आदि वृक्षों से स्पर्शित सुगन्ध आने लगी। अर्थात् शीतल सुरभित अगर तगर, कपूर चन्दनादि पादपों का स्पर्श कर पवन अनन्दमय सुरभि बिखेरने लगी ।। ५ ।।

एवं यावत् मूत्तावत सार्थवाहः स्मरातुरः ।
जिनदत्त प्रिया रूपं समालोक्य समाकुलम् ।। ६ ।।

ज्यों-ज्यों यान बढ़ता जाता, चारों ओर अनोखा दृश्य दिखलाई देता। इस प्रकार का उन्मादक वातावरण कामियों को उत्तेजित करने लगा उसी समय सार्थवाह की दृष्टि जिनदत्त की रमणी पर जा पड़ी। क्या था नयनपात मात्र से वह उसके रूप- लावण्य पर मुग्ध हो गया। स्मर वेग से उसे पाने को आतुर हो उठा ।। ६ ।।

भोजनं शयनं पानं वचनं कार्य चिन्तनम् ।
तन्मुखाम्भोज सक्तस्य सकलं ज्वलनायितम् ।। ७ ।।

कामबाण से बिंध सार्थबाह श्रीमती के मुखाब्ज पर आशक्त हो सब सुध-बुध भूल गया। उसे भोजन पान, शयन, वार्तालाप करना, कुछ भी कार्य विचारना अग्नि ज्वाला की दाह के समान पीड़ा कारक हो गये। अर्थात् समस्त दैनिक क्रियाएँ कष्ट दायक हो गयीं। किसी भी कार्य में उसे शान्ति या चैन नहीं पड़ता। लगता मानों चारों ओर धनञ्जय ही प्रज्वलित हो रही है ।। ७ ।।

समीरयन्ति कामाग्निं वेला वन समीरणाः ।
तस्य तां ध्याय मानस्य शून्यस्येव दिवानिशम् ।। ८ ।।

वह रात-दिन उसी का ध्यान करने लगा। उसकी कामाग्नि को सागर की शीतल वायु-वेलावन की सुगन्धी भरा पवन और अधिक से

अधिक दहकाने का काम कर रहा था। उसे सर्वत्र उसका अभाव शून्यता का आभास दिखाने लगा ॥ ८ ॥

दृष्टं सहस्रशो रूपं अबलानां मया भुवि।
तदस्याश्चरणा गुष्ठं लावण्येनापि नो समम् ॥ ९ ॥

कि कर्त्तव्य विमूढ़ सा विचारने लगा, "मैंने संसार में हजारों एक से एक बढ़कर सुन्दरियों को देखा है किन्तु उन सबका रूप इस परम नयनाभिराम रमणी के पैर के अंगूठे की शोभा के समान भी नहीं है ॥ ९ ॥

धन्यः स एव संसारे सालसायत लोचना।
बलिख्या वीक्षते विश्व सुभगं यमीयं स्वयम् ॥ १० ॥

वस्तुतः संसार में वही पुरुष धन्य है जो अलसाये नेत्रों से इस सुभग नारी रत्न का अवलोकन करता है, गलबाहें डालकर स्वयं इसकी रूपराशि का उपभोग करता है" ॥ १० ॥

ममेयं जगदानन्द दायिनी वश वर्त्तिनी।
केनोपायेन जायेत जीवितव्य फलं लघु ॥ ११ ॥

आगे विचारता है "किस उपाय से यह जगत को आनन्द देने वाली मेरे वश में हो सकती है ? इसके वश में होने पर मेरा जीवन शीघ्र ही फलवत होगा अन्यथा निस्सार जीवन से भी क्या प्रयोजन ? ॥ ११ ॥

अथवा विद्यते यावत् कुमारो वीर सत्तमः।
तावदस्याः सुखालोकं न कृतं मुख पङ्कजम् ॥ १२ ॥

अथवा यह विचार ही व्यर्थ हैं क्योंकि यह कुमार महान है, वीर और नरोत्तम है इसके जीते जी यह मेरे वश कदाऽपि नहीं हो सकती। इसके रहते इस नारी रत्न के आननपङ्कज का सुखावलोकन नहीं हो सकता। अतः इस कांटे को निकालना होगा ॥ १२ ॥

निक्षिप्य तं दुरालोकं क्रूर न क्रा कुले जले।
निश्चितं मानयिष्यामि संसार सुख मेतया ॥ १३ ॥

हाँ, इसे बिना किसी के जाने चुपके से क्रूर नरकों से भरे सागर के जल में दूर फेंक कर निश्चिन्त हो इसके साथ संसार सार सुख का अनुभव करूँगा, अपने को सुखी मानूंगा" ॥ १३ ॥

चिन्तयित्वेति तैर्लोकाः कुमारादपरे जनाः ।
कार्यं किमपि भाण्डाद्यैः युष्माभिः पतितेन हि ॥ १४ ॥

इस प्रकार सोच कर कृत निश्चय हुआ । उसी समय कुमार के अतिरिक्त अन्य जनों को बुलाया और आदेश दिया कि शीघ्र ही भाण्डादि को समुद्र में डालो कुछ विशेष कार्य है ॥ १४ ॥

बिभिद्येति समस्तैः स्तोकं क्षिप्तं किमपि वारिणि ।
उदासीनेषु सर्वेषु कुमारोऽवत तार सः ॥ १५ ॥

भयातुर हो सबने कुछ-कुछ पानी में फेंकना शुरू किया । सबको खिन्न और उदासीन देख कुमार सागर में क्या है, ज्ञात करने को उतरा ॥ १५ ॥

ततश्छिन्ना वरत्राते वेगतो गतवान सौ ।
यथागाध जले पोतो वाहित एव क्षणात्तत् ॥ १६ ॥

उसी क्षण उन लोगों के द्वारा जहाज छोड़ दिया गया और कुमार अगाध सागर तरंगों में जा हिलोरे लेने लगा । लंगर कट गया, यान चल पड़ा कुमार अथाह जल में क्रीड़ा करने लगा ॥ १६ ॥

कुमार पात संज्ञात शोक शङ्कुहताहृदि ।
अजस्राश्रु प्रवाहेण प्लावित स्तन मण्डला ॥ १७ ॥

कुमार उत्ताल तरंगों की क्रोड में जा छुपा यह ज्ञात होते ही कुमारी का हृदय अंकुश से छिन्न हो गया । मानों उसके उर को वज्र ने भेदन कर दिया । नयनों से अविरल अश्रुधारा बह चली ! ॥ १७ ॥

सा किं कर्त्तव्यता मूढा यावत्तिष्ठति सुन्दरी ।
तावदभ्येत्य सावादी सार्थ वाहेन दुःखिता ॥ १८ ॥

इधर यह कि कर्त्तव्य विमूढ़ सी होकर बैठ गई, क्या करूँ क्या नहीं, कुछ भी सूझ नहीं रही, हतप्रभ सी रह गई उसी समय वह लंपटी सार्थवाह वहाँ आ धमका और असफल प्रयास करता बोला, ॥ १८ ॥

शशाङ्क मुखो माकार्षीः शोकं संताप कारणम् ।
सर्वाः सर्वं प्रकारेण तवाशाः पूरयाम्यहम् ॥ १९ ॥

"हे चन्द्रमुखी ! संताप कारक शोक मत करो। तुम्हारी जो भी इच्छा, कामनाएँ हैं, मैं उन सबको सर्व प्रकार से पूर्ण करूंगा ॥ १६ ॥

मयि तिष्ठति तन्वङ्गि त्वदादेश विधायिनि।
आयसैव समस्तार्थं किं दुःखेन विषीदसि ॥ २० ॥

हे तन्वंगि ! मेरे रहते तुम्हें क्या कष्ट है, मैं तुम्हारे आदेश का अनुयायी हूँ। सभी अर्थों का विधायक तुम्हारी आज्ञा की प्रतीक्षा करता हूँ फिर व्यर्थ क्यों व्यथित होती हो ॥ २० ॥

अम्बराणि विचित्राणि भूषणानि यथारुचि।
गृहाण मद्गृहे सर्वं स्वामित्वं च शुभे कुरु ॥ २१ ॥

नाना चित्र-विचित्र वस्त्र और अनेक प्रकार के आभूषण मेरे घर में भरे पड़े हैं उन सबको ग्रहण करो, और हे शुभे स्वामित्व स्वीकार करो। अर्थात् घर मालिकिनी बन कर सब पर आज्ञा चलाओ—मेरी गृहणी बनों ॥ २१ ॥

भुङ्क्ष्व भोगान् मया सार्कं बाले वाञ्छति रेकतः।
सम्पन्न सर्वं सामग्र्यं सफली कुरु यौवनम् ॥ २२ ॥

हे बाले मेरे साथ मनोवाञ्छित भोगों को भोगो, समग्र सामग्री से सम्पन्न कर अपने यौवन को सफल करो। क्योंकि भोग्य योग्य अशेष सामग्री मेरे पास है ॥ २२ ॥

अतएव मया मुग्धे जिनदत्तः प्रपञ्चतः।
पयोनिधौ परिक्षिप्तस्त्वत्संगहित चेतसा ॥ २३ ॥

हे मुग्धे ! तुम जिनदत्त का स्नेह छोड़ो, मैंने तुम्हारे सुख सौभाग्य के लिए उसे प्रपञ्च रचकर अगाध सागर में डाल दिया है। तुम्हारे संगम की लालसा से ही मैंने यह कार्य किया है ॥ २३ ॥

अतः कान्ते गता शङ्का सविलासं समं मया।
रत सौख्यं भजाजन्म सर्व बाधा विवर्जितम् ॥ २४ ॥

अतएव हे सुकान्ते, शोक का त्याग कर आनन्द पूर्वक मेरे साथ रतिक्रीड़ा करो, निशंक होओ, विलास पूर्वक आजन्म निर्बाध रति सुखानुभव करो ॥ २४ ॥

तन्निशम्य नराधीश सुतया विधुतं शिर: ।
चिन्तितञ्च शतेनेन कोर्णः क्षारोति दुःसहः ।। २५ ।।

इस प्रकार उसे श्रेष्ठी—सार्थवाह ने अनेकों मधुर किन्तु कुत्सित वचनों से फुसलाने का असफल प्रयास किया । जिसे सुनते ही राजपुत्री का मन अधीर हो गया वह माथा धुनने लगी और सोचने लगी ओह इसने न केवल मुझे क्षत-विक्षत ही किया है, अपितु क्षार जल सींच कर दुस्सह [illegible] यातना का पात्र मुझे बनाया है ।। २५ ।।

कृत्याकृत्यम विज्ञाय कामान्धेन कथं वृथा ।
नीलोत्पलदलैः कष्टं कुकूलं किल कल्पितम् ।। २६ ।।

कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेक शून्य इस कामान्ध दुराचारी ने व्यर्थ ही मुझे आपद ग्रस्त किया है । सुन्दर कोमल नीलकमल के पत्तों द्वारा कष्ट कारक कुकूल समान कष्ट कल्पित किया है । अर्थात् जो कुमुद जिनदत्त रूपी चन्द्र दर्शन से विकसित होते थे क्या उसके छुप जाने पर प्रफुल्ल रह सकते हैं ? कभी नहीं । यह महा अविवेकी है । मैं कुमुदनी और मेरे प्रिय पतिदेव चन्द्र थे । भला उनके वियोग में यह मुझे सुखी करना चाहता है ये कैसे सम्भव हो सकता है ? नहीं हो सकता है ।। २६ ।।

जिनदत्त निशानाथं कुर्वतो मे तिरोहितम् ।
केन वा हा पिशाचस्य मुखमेतस्य दृश्यते ।। २७ ।।

मेरे पतिदेव रूप राकापति (चन्द्र) को इस दुष्ट ने तिरोहित कर दिया, मेरे नयनों से दूर किया । किस प्रकार इस पिशाच का मुख देखूं । अर्थात् यह साक्षात् पिशाच राक्षस प्रतीत हो रहा है ।। २७ ।।

अथवा सर्वं पापानामहमेव निबन्धनम् ।
मद्रूपासक्त चित्तेन मदनेन स नाशितः ।। २८ ।।

अथवा न जाने वह किसके मुख का ग्रास बना होगा । पुनः वह विचार करती है इन समस्त दुष्कर्मों का हेतु-निमित्त मैं ही हूँ क्योंकि मेरे इस रूप लावण्य पर आसक्त होकर ही इसने मेरे प्राणनाथ का जीवन हरण किया है ।। २८ ।।

खण्डयित्वा द्विर्धा जिह्वां दन्तोष्ठकालं जलेथवा ।
असि पुत्रिकया हत्वा किमात्मा नमहं म्रिये ।। २९ ।।

इस भीषण जलधि में प्राणनाथ का जीवन रह नहीं सकता, क्योंकि अनेकों दुष्ट पक्षियों ने अपनी तीक्ष्ण चोंचों द्वारा उन्हें खण्ड-खण्ड कर दिया होगा, अथवा जल-जन्तुओं ने भक्षण कर लिया होगा या जल में ऊब-डूब कर प्राण त्याग दिया होगा ? हाय अब मैं क्या करूँ ! मेरे जीवन से क्या प्रयोजन ? अब मुझे मरण ही शरण है, (कुछ सोचकर) हाँ यही अच्छा होगा कि तलवार से घात कर मैं मर जाऊँ ? नहीं "यह योग्य नहीं" मानों उसके हृदय से एक अज्ञात ध्वनि हुयी ॥ २९ ॥

अथवा धिगिमं तेन धर्मज्ञेन निवारिता ।
आत्मघातं विलम्बे या मा कदाचित्तदागमः ॥ ३० ॥
शीलं पालयतां सम्यक् स्त्रियाणामिह वाञ्छितं ।
भूयोपि संभवत्येव सीतादीनामिव ध्रुवम् ॥ ३१ ॥

इस तरह चिन्तातुर वह कमनीय कान्ता आत्मघात का विचार कर ही रही थी कि उसे अपने पतिदेव द्वारा उपदिष्ट सद्धर्मबोध जाग्रत हो कहने लगा, धिक्कार है इस कुत्सित नीच विचार को। उन धर्मज्ञ पतिदेव ने कहा था जिनागम में आत्मघात सबसे बड़ा पाप है। उसे लगा जैसे अन्तर्ध्वनि आ रही है। कोई धर्मशील सत्पुरुष उसे निवारण कर रहा है, हे देवि खोटा विचार छोड शीलरत्न का सम्यक् प्रकार पालन कर, यह शीलव्रत सकल मनोवाञ्छितों का प्रदाता है। सीता महासती आदि सतियों के समान तुम्हें भी पुनः पति संयोग की शुभ वेला प्राप्त हो सकती है। यह ध्रुव अटल सत्य है कि धर्म सबका रक्षक निष्कारण बन्धु है। अतः हताश नहीं होना चाहिए ॥ ३०—३१ ॥

"मानों उसकी तन्द्रा टूटी, निद्रा से जागी, आत्म-सत्त्व उद्बुद्ध हुआ। वह पूर्ण दृढ़ता से सोचने लगी वस्तुतः मेरे पतिदेव ने मुझे सम्यक्त्व ग्रहण कराया है मैं उसे नहीं छोड़ सकती, आत्मघात मिथ्यात्व है, इसे कभी नहीं करूँगी। शीलव्रत का पालन करते हुए जीवन यापन करूँगी। किन्तु इस समय मैं पूर्ण असहाय एकाकी हूँ। यह कामान्ध राक्षस मेरे धर्म रत्न को चुराने पर उतारू है। इस दशा में क्या उपाय करूँ ? किस प्रकार बचूँ ? कौन सहायी होगा ? इत्यादि तर्कणाओं में झूलने लगी। सोच-विचार कर उसने निम्न प्रकार निर्णय लिया—

विदधामि तथैतस्य कामार्त्तं स्याशु वञ्चनम् ।
भाविः भद्रं प्रिय प्राप्तावन्यथा स्यात्तपोवने ॥ ३२ ॥

इस समय मैं शीघ्र ही इस कामविह्वल को वञ्चना से वश करती हूँ। इस लुब्धक को ठगने में दोष नहीं। इसे आश्वासन देकर शान्त करना चाहिए। यदि निकट भविष्य में प्रिय पतिदेव का समागम मिल गया तो ठीक है अन्यथा तपोवन की शरण ग्रहण करूँगी अर्थात् आर्यिका व्रत धारण कर, जीवन साधना द्वारा इस स्त्रीपर्याय का ही उन्मूलन करूँगी ॥ ३२ ॥

संभाव्येति तयाभाणि सूक्त मेतत्त्वोदितम्।
वज्र शृंखल तुल्यन्तु वाचा बन्धन मस्तिते ॥ ३३ ॥

तो भी प्रथम इसे समझाती हूँ। इस प्रकार संभावना कर वह आर्तनाद करती बोली, आपकी सूक्तियाँ सत्य हैं तो भी मेरे लिए वज्र-शृंखला की भाँति बन्धन स्वरूप ही हैं। अर्थात् आपके वचन मुझे वज्र की सांकल के समान पीड़ा कारक हैं। किन्तु तुम्हें भी ये पाप बन्धन में जकड़ने वाले हैं। पर नारी पर कुदृष्टि डालने पर संकट रूपी वज्रपात होता है ॥ ३३ ॥

श्वसुरोयं तवेत्युक्तं त्वत्पुत्रेण पुरो मम।
अतोस्ति तात तुल्याय रन्तुं मे जायते घृणा ॥ ३४ ॥

आप मेरे श्वसुर के समान हैं। आपके पुत्र ने मेरे सामने आपको पिता कहा था इस दृष्टि से मेरे भी पिता हो, पिता तुल्य आपके साथ रमण करने में मुझे घृणा होती है ॥ ३४ ॥

प्रतिपन्नं न मुञ्चन्ति प्राण त्यागेऽपि सन्नराः।
यथा सागर एवायं मर्यादां विजहाति किम् ॥ ३५ ॥

सत्पुरुष प्राणान्तेपि न्याय नीति का औचित्य का त्याग नहीं करते। क्या रत्नाकर कभी अपनी मर्यादा-सीमा का उल्लंघन करता है ? ॥ ३५ ॥

स्वकुले विमले सम्यक् हेयाहेयौ विजानता।
सम्पर्केण परस्त्रीणां कलङ्कः क्रियते कथम् ॥ ३६ ॥

फिर आप अपने निर्मल कुल में प्रसूत हैं, सम्यक् प्रकार हेय और उपादेय के ज्ञाता हैं, अर्थात् क्या करने योग्य है और क्या नहीं इसे आप भलीभाँति जानते हैं तो भी परनारी के सम्पर्क से उस उज्ज्वल कुल को क्यों कलङ्कित कर रहे हैं ? ॥ ३६ ॥

प्रकर्त्तव्ये कथं चित्त मीदृशे भजतां मम।
उत्साहं ताडशे जन्म स्मरन्त्याः स्व कुले धुना ॥ ३७ ॥

मैं श्रेष्ठ कुल प्रसूत, इस प्रकार के अकरणीय–अनुचित कार्य को भला किस प्रकार कर सकती हूँ। उच्चकुलीन महिला का चित्त नीच कार्य में उत्साहित नहीं होता। इस समय मैं अपनी मर्यादा का स्मरण कर इस घृणित कार्य को किस प्रकार कर सकती हूं भला ॥ ३७ ॥

सार्थवाहस्तदाकर्ण्य तामुवाच मनस्विनि।
जानाम्येव तथाप्युच्चं मामभि द्रवति स्मरः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार युक्ति युक्त, नीति वाक्य सुनकर वह मोहान्ध सार्थवाह विवेक हीन कहने लगा 'हे मनस्विनि' आपका कथन सर्वथा सत्य है। मैं इसे सम्यक् प्रकार जानता हूं फिर भी यह दुर्वार काम मुझे अतिशय पीड़ा दे रहा है ॥ ३८ ॥

मामयं मोहयामास तथा कामो यथा शुभे।
लज्जा यशो विवेकाद्याः स्पृश्यन्ते मनसा न मे ॥ ३९ ॥

हे शुभे इस समय यह कामज्वर का वेग इतनी तीव्रता प्राप्त कर चुका है कि इससे अभिभूत मेरे मन को, लज्जा, यश, विवेक आदि स्पर्श भी नहीं कर सकते हैं। मैं मोहान्ध हो चुका हूं ॥ ३९ ॥

कन्दर्प सर्प दष्टस्य मूर्च्छतो मे मुहुर्मुहुः।
समस्तोपाय मुक्तस्य दीयतां सुरता मृतम् ॥ ४० ॥

हे कल्याणि, कन्दर्प रूपी भुजंग से डसा मैं बार-बार उस विष से मूर्च्छित हो रहा हूँ। इस मूर्च्छा के शमन का एक मात्र उपाय तुम्हारे ही पास है। अतः अतिशीघ्र सुरतामृत-रति रूपी अमृत प्रदान कर मुझे इस पीडा से मुक्त करो। तुम्हारा प्रेम रस ही मेरा जीवन उपाय है ॥ ४० ॥

एकान्तेन न चाकार्य मेतत्तव तनुदरी।
श्रूयते हि पुराणेषु श्रुतौ चैव सहस्रशः ॥ ४१ ॥

फिर हे तनुदरी–हे कृशोदरी सुनो! आप जो कह रही हो वह

एकान्त रूप से सत्य भी नहीं है क्योंकि एकान्त से अकार्य होता तो श्रुति पुराणों में ये कथानक किस प्रकार मिलते । हजारों उपाख्यान इस प्रकार के उपलब्ध होते हैं ॥ ४१ ॥

> द्रौपदी मुदिता भ्रातु पञ्चकं अगमुत्तमम् ।
> तातादि विदिता चक्रे कृतार्थं काम केलिभिः ॥ ४२ ॥

सुनो मैं तुम्हें उदाहरण सुनाता हूँ "द्रौपदी अपने जेठ देवर पाँचों उत्तम भाईयों पर मुग्ध हुयी पञ्च भर्त्तारी कहलायी । वह सभी के साथ स्नेह से काम लीला में रत हुयी । पाँचों को रति प्रदान कर कृतार्थ किया ॥ ४२ ॥

> समस्त स्मृति शास्त्रज्ञो नरामर नमस्कृतः ।
> भारद्वाज तपाजातो नैव किं भ्रातृ जायया ॥ ४३ ॥

भारद्वाज तपस्वी, समस्त शास्त्र और स्मृतियों का ज्ञाता था, मनुष्य क्या देवों से भी नमस्करणीय था तो भी अपनी भौजाई पर आसक्त हो गया । क्या तुम नहीं जानती ? ॥ ४३ ॥

> स्त्रियं वा पुरुषं वापि स्वयमेव समागतम् ।
> भजते यो न तस्यास्ति ब्रह्महत्या निशंसयम् ॥ ४४ ॥

जो स्त्री या पुरुष स्वयं आये हुए पुरुष या स्त्री का सेवन नहीं करता वह निश्चय ही ब्रह्महत्या पाप का भाजन होता है । अर्थात् पुरुष के सामने स्त्री और स्त्री के समक्ष कोई भी पुरुष आकर भोग भिक्षा याचना करे तो उसे अस्वीकार नहीं करना चाहिए क्यों कि उसके साथ भोग न करने से उसे ब्रह्मघात का पाप लगता है इसमें संशय नहीं है ॥ ४४ ॥

> तथावाचि महाबुद्धे वक्तु मेवं न युज्यते ।
> शस्यते नहि केनापि स्नुषा श्वसुर सङ्गमः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार के अधर्म युक्त पाप कारी सेठ के वचनों को सुनकर वह पतिव्रता, परम धैर्य से कहने लगी । हे बुद्धिमन्, आपको ये वचन कहना युक्तियुक्त नहीं हैं, शोभनीय या उचित नहीं हैं पुत्रवधू श्वसुर के साथ सङ्गम करे यह किसी के द्वारा भी प्रशंसनीय-मान्य नहीं हो सकता ॥ ४५ ॥

द्रौपद्याद्या महासत्याः पवित्रीकृत भूतलाः।
विषयान्धेन केनापि तद्वृत्तं कृतमन्यथा ।। ४६ ।।

द्रौपदी आदि महासतियाँ थीं उनके शीलधर्म के प्रभाव से समस्त जगतितल पावन हो गया, उन्होंने अपने निर्दोष पतिव्रत धर्म से भूमण्डल को मण्डित किया था। किन्हीं विषयान्ध पुरुषों ने इस प्रकार का विपरीत कथन किया है। महासती भला पञ्चभर्तारी कैसे हो सकती है ? यह सर्वथा असत्य है ।। ४६ ।।

भारद्वाजादि दृष्टान्ताः प्रमाणं न हि भाषते।
भवादृशा दुराचाराः पुराप्यासन्न किनराः ।। ४७ ।।

रही बात भारद्वाज आदि की ये भी कोई प्रमाणित नहीं हैं क्यों कि पहले भी आपके जैसे दुराचारी क्या नहीं थे ? ऐसे ही नरों में से यह भी होगा कोई ।। ४७ ।।

स्वयमेवागते स्त्र्यादि युक्तं यदि सुभाषितम्।
पारदारिक लोकस्य शिरश्छेदादिकं कृतम् ।। ४८ ।।

आपने कहा कि स्वयं आये पुरुष का सेवन करना दोष युक्त नहीं यह भी किसी प्रकार से मान्य नहीं क्यों कि इसके विरोधी सुभाषित हैं कि परदार सेवी का शिरच्छेद किया जाना चाहिए। अन्य भी योग्य दण्ड देना उचित है ।। ४८ ।।

पीडितोऽपि न चाकृत्यं कुरुते जातु सात्विकः।
यत्किञ्चिदेव किं सिंहः क्षुधाक्षीणोपि खादति ।। ४९ ।।

हे तात् ! आप सत्पुरुष हैं, सज्जन व्यथित-पीडित होने पर भी अनुचितकार्य को नहीं करता क्या कभी सिंह क्षुधा से क्षीण होने पर भी चाहे जो खाता है क्या ? नहीं ।। ४९ ।।

भिन्दन्ति हृदयं यस्य कटाक्षै रभिसारिका।
तमीर्ष्ययेव मुञ्चन्ति लोक द्वितय सम्पदः ।। ५० ।।

जिस पुरुष का हृदय परस्त्री-व्यभिचारिणी के कटाक्ष बाणों से विद्ध होता है उसे उभय लोक की सम्पदा ईर्ष्या से त्याग देती है।

स्त्रियों में स्वाभाविक असूया होती है—सपत्नी अन्य सपत्नी को सहन नहीं कर सकती। इसी कारण मानों परदार सेवी को लक्ष्मी रूपी नारी तिरस्कृत कर छोड़ देती है ॥ ५० ॥

अन्यस्त्री भ्रूधनुर्मुक्ता कटाक्ष शर पंक्तिभिः।
न शील कवचं भिन्नं येषां तेभ्यो नमो नमः ॥ ५१ ॥

संसार में वे पुरुष पूज्य होते हैं जिनके हृदय परनारी द्वारा विमुक्त कटाक्ष रूपी बाणों से विद्ध नहीं होता है। वासना रूपी कटाक्ष बाणों से जिनका शील रूपी कवच भेदित हो जाता है वे पुरुष संसार में अपकीर्ति के पात्र होते हैं। जो अपने शील रत्न का रक्षण करते हैं वे पूज्य और मान्य होते हैं ॥ ५१ ॥

मालिन्यं स्व कुले येन जायते दूष्यते यशः।
तत्कृत्यं क्रियते केन स्वस्य सौख्य समीहया ॥ ५२ ॥

परनारी सेवन द्वारा स्व कुल मलिन होता है, यश अपयश रूप हो जाता है, भला कौन है जिसके हित के लिए यह कार्य हुआ है ? अर्थात् परनारी सेवन से कभी भी सुख नहीं हो सकता ॥ ५२ ॥

कलत्र संग्रहः पुंसां सतां सन्तान वृद्धये।
तत्रैवान्ये समासज्य नरके निपतन्ति हि ॥ ५३ ॥

सज्जन संतान-परम्परा वृद्धि के लिए कलत्र-पत्नी रूप में स्त्री को स्वीकार करते हैं उसमें भी यदि (उसमें भी) अत्यासक्ति रखते हैं तो नियम से नरक में पड़ते हैं। फिर पराई स्त्री सेवी की क्या—कथा ? आप इस पाप से अपनी रक्षा करो ॥ ५३ ॥

सन्तोन्यवनितां वीक्ष्य प्रयान्त्या नत मस्तकाः।
वृषभास्तोयदोन्मुक्त नीरधारा हता इव ॥ ५४ ॥

जो दुर्जन अन्य वनिता को देखकर, चापलूसी करता है, नत मस्तक होता है, उसकी विनय करता है वह धर्मरूपी क्षीर से उन्मुक्त हो—छोड़कर जलधारा के प्रवाह से आहत के समान होता है ॥ ५४ ॥

अकामिता स कामेपि कलत्रे न्यस्य यन्नृणाम्।
महाव्रतमिदं नाम न परस्त्र्यादि धारणम् ॥ ५५ ॥

यदि स्त्री चाहती भी हो तो उसे भी नहीं चाहना पुरुष के लिए उत्तम है महाव्रत समान है। न कि परस्त्री आदि को धारण करना ? अत: परनारी नरक दुःख का द्वार है ॥ ५५ ॥

रामामम्बा मिवान्यस्य कचारमिव काञ्चनम् ।
पश्यन्ति ये जगत्संवामशेषं गाहते यश: ॥ ५६ ॥

जो महापुरुष पराई वनिता को अम्बा-मां के समान समझता है और पर धन-कञ्चन को कचार के समान देखता है, उसके शुभ्र निर्मल यश से संसार व्याप्त हो जाता है ॥ ५६ ॥

पाताल बन्ध मूलोपि मेरु: स्खलति कर्हिचित् ।
प्राणात्ययेऽपि दुर्वृत्ते सतीनां न पुनर्मन: ॥ ५७ ॥

पाताल के मूल-जड़ को कदाचित बांधा जा सकता है, मेरु पर्वत सम्भत: कदाच चलायमान हो जाये, किन्तु सतियों-साध्वियों का मन प्राणान्त होने पर भी दुर्वृत्ति-नीच कार्य में रत नहीं हो सकता ॥ ५७ ॥

नान्यं जातुनिषेवेह परित्यज्य निजं पतिम् ।
चन्द्रमन्तरिते सूर्ये पश्यत्यपि न पद्मिनी ॥ ५८ ॥

परम शीलवती नारी अपने पतिदेव को छोड़कर अन्य पुरुष का सेवन कभी नहीं कर सकती। क्या सूर्य से आच्छादित चन्द्रमा के होने पर भी कुमुदनी रवि का स्वागत करती है, प्रफुल्ल होती है क्या ? नहीं। सूर्योदय होने से चन्द्र तिरोहित हो जाता है उसके साथ ही कुमुदनी भी मुरझा जाती है। चन्द्रोदय होने पर ही विहँसती है। उसके अभाव में सूर्य से प्रीति नहीं करती ॥ ५८ ॥

शेष शीर्षमणिर्मध्ये सिंहानां केसरच्छटा ।
केनाऽपि स्पृश्यते क्वापि सतीनां न पुनस्तनु: ॥ ५९ ॥

नाग के मस्तक में गरुडमणि रहती है, सिंह के शरीर पर केशर छटा होती है ये किसी के द्वारा स्पर्शित नहीं होती अर्थात् क्या कभी किसी ने इनका स्पर्श किया है ? नहीं किया। उसी प्रकार सती महिला का शरीर पर-पुरुष द्वारा कभी भी स्पर्शित नहीं हो सकता ॥ ५९ ॥

अतः शुद्धं मनः सम्यक् त्वं विधेहि महामते ।
बोधयन्तीति सा तेन श्रेष्ठिना भणिता पुनः ॥ ६० ॥

अतः हे महामते ! बुद्धिमन ! अपने मन को शुद्ध करो, भले प्रकार मन से कालुष्य को निकालो, अर्थात् परनारी के प्रति इस दुष्ट विचार को छोड़ो। इस प्रकार उस महासती ने इसे सम्बोधित किया किन्तु उस काली कमरिया पर कुछ भी असर नहीं पड़ा, वह मोहान्ध उसी धुन में उसे कहने लगा ॥ ६० ॥

पाषाण हृदया जाने सत्यं त्वं बाल पण्डिता ।
निर्दाक्षिण्यतया स्माकं संतापायैव निर्मिता ॥ ६१ ॥

ओह, तुम सचमुच बाल पण्डिता हो, पाषाण हृदया हो ऐसा मुझे प्रतीत होता है। तुम्हारी चतुराई, दाक्षिण्य सम्भवतः हमारे संताप के लिए ही निर्मित हुआ है ॥ ६१ ॥

बहिरुल्लासि लावण्यं प्रसन्नानन चन्द्रमाः ।
अन्तर्दंष्ट्रासि दुर्बुद्धे विष वल्लीव किं वृथा ॥ ६२ ॥

बाह्य में तुम्हारा लावण्य उल्लास भरा है, प्रसन्न आनन चन्द्रमा ही है किन्तु हे दुर्बुद्धे ! क्यों अंतस् को वृथा ही अहिवत् दंश रही हो। विषवल्ली समान व्यर्थ ही प्राण संहार करती हो ॥ ६२ ॥

त्वं विधेहि यथाभीष्टं संङ्गरोयं पुनर्मम ।
त्वन्मुखालोकनादन्यत् करिष्यामि न किञ्चन ॥ ६३ ॥

शीघ्र ही तुम मेरे अभीष्ट की सिद्धि करो, तुम्हारे साथ मेरा संगम हो यही तुम्हें करना चाहिए। तुम्हारे मुखाब्ज अवलोकन के अतिरिक्त मैं अन्य क्या करूँगा ? अर्थात् आपका मुखपंकज निहारने के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं करूँगा ॥ ६३ ॥

परमेवं बिध प्रेमासक्तः सर्वजनप्रियः ।
भक्तश्च हि देवानां प्राणान् प्रोज्झामिते पुरः ॥ ६४ ॥

तुम्हीं मेरे प्रेम की पुतली हो, सर्व जनप्रिय तुम्हारा ही प्रसाद है, भक्ति और आराधना का फल क्या मैं अपने प्राणों को भी अभी आपके सामने विसर्जित कर दूंगा ॥ ६४ ॥

निबन्धं तस्य त ज्ञात्वा समुवाच नृपात्मजा।
यद्याग्रह स्त्वदम्भूच्चैः शृणु त्वं राजवीरितम् ॥ ६५ ॥

श्रेष्ठी का इस प्रकार कठोर दुराग्रह देखकर, श्रीमती राजकुमारी सावधान होकर, निर्भय इस प्रकार बोली, यदि आपका ऐसा दृढ़ संकल्प है, महान कदाग्रह है तो ठीक है किन्तु मैं जो कुछ कहती हूँ उसे ध्यान से सुनिये और तदनुसार करिये ॥ ६५ ॥

तावत प्रतीक्षतां मास षट्कं कान्तस्य कारये।
नाम्ना तस्यैव कृत्यानि यावत् पश्चात् त्वदीहितम् ॥ ६६ ॥

मैं छः महीने पर्यन्त पतिदेव की प्रतीक्षा करूँगी और उन्हीं के नाम से क्रियाकाण्डादि भी करती रहूँगी। यदि इस अवधि में उनका समागम नहीं हुआ तो आपके अभिप्रायानुसार चलना मुझे स्वीकृत है ॥ ६६ ॥

ततोऽधुना परित्यज्य भवन्तंगत भर्तृका।
बिना बाध्य तयाशक्ता नेतुं जन्म किमेकका ॥ ६७ ॥

अतएव इस समय आपके बिना भलाप्रिय भर्त्ता के बिना मैं एकाकी जीवन यापन किस प्रकार कर सकूंगी ॥ ६७ ॥

युक्तायुक्त विचारज्ञो भवानेव हि भूतले।
ततस्त्वद्वचनादेवं कर्त्तव्यं मम का क्षतिः ॥ ६८ ॥

फिर संसार में युक्त और अयुक्त का विचार करने वाले आप ही एक विशेषज्ञ हैं। फिर भला आपके वचनानुसार कार्य करने में मेरी क्या क्षति है ? आपका परामर्श ही मान्य है ॥ ६८ ॥

एवं श्रुत्वा वदत् सोऽपि दीर्घं निश्वास्य सुन्दरी।
एवमस्तु परं भूयान् विक्षेपः काल गोचरः ॥ ६९ ॥

त्वदीयानन शीतांशु त्वद्दाचामृत निर्झरैः।
मन्द मन्मथ सन्ताप स्तथापि स्थितिमादधे ॥ ७० ॥

इस प्रकार राजसुता का कथन सुनकर वह दीर्घ निश्वास लेने लगा। किसी प्रकार बोला, हे सुन्दरी ! ऐसा ही करो, परन्तु पुनःकाल विक्षेप नहीं करना। मैं तुम्हारे मुखरूपी शीतांशु-चन्द्रमा के निहारने से और

तुम्हारे वचनरूपी शीतल अमिय झरने के जल से अभिसिंचित होकर ही जीवन धारण कर सकूंगा, किस प्रकार मेरा कामदाह शान्त हो सकेगा। किस प्रकार स्थिति धारण कर सकूँगा ॥ ६९–७० ॥

एवं कृते ततः प्राप्तं वासरे गणितैस्तटम् ।
यान पात्रं परिज्ञाय तया प्रोक्ताजना निजाः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार निर्णय कर एक-एक दिन गिन कर निकालने लगा, धीरे-धीरे यान सागर के तट पर आ पहुँचा। तटस्थ आये जहाज को देखकर नृपसुता ने अपने समस्त परिकर को बुलाया और कहा ॥ ७१ ॥

उदस्त्यास्म्यहम संव तीर द्रुम तलेतत: ।
स्थास्यामीति च वक्तव्यं श्रेष्ठिनो यदि प्रच्छति ॥ ७२ ॥

मैं अभी पानी के बाहर तट पर स्थित वृक्षों के समूह तले निवास करती हूँ। यदि श्रेष्ठी पूछे तो उसे कह देना कि मैं लता गुल्मों में रहूँगी ॥ ७२ ॥

अथ ते सोत्सवाः सर्वे समुत्तीर्णा जनास्तदा ।
आदाय प्राभृतं श्रेष्ठी जगाम च नृपान्तिकम् ॥ ७३ ॥

यह सुनते ही सर्वजन सोत्साह प्रमोद से वहाँ उतर पड़े। पड़ाव डाल दिया। उधर श्रेष्ठी भी प्राभृत–भेंट लेकर उस नगरी के नृपति के पास जाने को उद्यत हुआ ॥ ७३ ॥

तस्यास्तु रक्षका दत्ता श्रेष्ठिना यान लीलया ।
व्याकुलास्ते भवन्सापि स्वं जगाहाखिलं जनम् ॥ ७४ ॥

समाश्रुत्य परिवारा स्नान व्याजेन सा ततः ।
विनिर्गता लघु प्राप सार्थं चम्पापुरागतम् ॥ ७५ ॥

श्रेष्ठी ने उसे क्रीड़ार्थ साथी दिये एवं यानादि के संरक्षक दिये। सभी उसकी अवस्था से चिन्तित थे। उसी समय वह उन शेष लोगों से कहने लगी। आप यहीं विश्राम करें मैं स्नान करने जा रही हूँ। इस प्रकार स्नान का बहाना कर वह दूर चली गई वे लोग भी आश्वस्त हो बैठ गये। बस, क्या था वह अवसर पाकर नगर में–चम्पापुरी में प्रविष्ट हो गई ॥ ७४–७५ ॥

उक्त वृत्ता प्रधानेन तत्राग्राहि सुता मम।
भगिन्यथा भवतीत्येवं नि: शङ्का गच्छ पुत्रिके ॥ ७६ ॥

चम्पानगरी में प्रवेश करते ही उसे उसके प्रधान रक्षक से भेंट हुयी। बहुत सज्जन और धर्मात्मा था। उस आकुलित राजपुत्री ने अपना अशेष वृत्तान्त उसे सुनाया। सुनकर प्रधान ने कहा, तुम मेरी पुत्री हो। शंका मत करो, निर्भय हो अन्दर प्रवेश करो ॥ ७६ ॥

प्राप्ता चक्रमतश्चम्पोद्यान मानन्द दायकम्।
तत्रादर्शितया जैनं सद्म पद्मानिकेतनम् ॥ ७७ ॥

नगर में प्रवेश कर कुछ चलने पर आनन्द दायक रमणीक फल पुष्प पत्र से प्रपूरित उद्यान प्राप्त हुआ। वहाँ उसने एक विशाल शोभनीय, निकेतन-जिनालय देखा। जो ध्वजा पद्मादि का निकेतन था ॥ ७७ ॥

प्रविशन्ती च तत्रासौ निशह्या शब्द पूर्वकम्।
दृष्टा विमलमत्या च दासी सेवक संयुता ॥ ७८ ॥

परमाह्लाद और भक्ति से नि: सहि नि: सहि शब्द उच्चारण कर जिनालय में प्रवेश किया। वहाँ उसने "विमलमती" (जिनदत्त की प्रथम पत्नी) को दास-दासी सहित देखा ॥ ७८ ॥

तत: कृत जिनाधीश संस्तवा वन्दितार्यिका।
आसनादि विधिं कृत्वा विश्रान्ता वादि सादरम् ॥ ७९ ॥

प्रथम ही उसने श्री जिनेन्द्र प्रभु की भक्ति, स्तुति कर दर्शन किये, पुन: जिनालयस्थ श्री १०५ आर्यिका संघ को वंदामि किया। उचित आसनादि ग्रहण किया। तत्पश्चात् विमला देवी ने सखियों सहित पूछा ॥ ७९ ॥

कुत: साध्वी समायाता सुन्दराचारकारिणि।
क्षेमं च ते समस्तानां तातादीनां तथा शुभे ॥ ८० ॥

तुम्हारी कुशल तो है ? हे सति ! कहाँ से आयी हो ? हे सुन्दराकार धारिणि ! आपके माता-पितादि क्षेम पूर्वक हैं न ? ॥ ८० ॥

विस्मिताभि स्सतरताभि र्बहुधा प्रतिबोधिता।
अवादीत्सखि विस्तीर्णा कथा मे दु:ख दायिनी ॥ ८१ ॥

वे सभी अत्याश्चर्य से चकित हो रहीं थीं। क्योंकि एक सुन्दरी राजकुमारी का इस प्रकार एकाकी आगमन आश्चर्य का विषय ही था। उन्होंने बार-बार उसे प्रतिबोधित किया—स्नेहपूर्वक उसका वृत्तांत पूछा। वह भी उनके वात्सल्य से अभिभूत हो कहने लगी, देवियो, मेरी कथा बहुत ही दुःखप्रद है—करुण कथा है ॥ ८१ ॥

देहिनां स्नेह बद्धानां संतापोऽस्ति पदे पदे।
पश्य स्नेहोज्भितं सद्धि कुंकुमं न हि तापकृत् ॥ ८२ ॥

हे सुबुद्धे, संसार में स्नेह से जकड़े प्राणियों को पद-पद पर संताप उत्पन्न होता है। देखो, स्नेह चिकनाई से रहित कुंकुम भी ताप का कारण नहीं होता। अर्थात् कुंकुम में तेल डालकर बिंदू लगाने पर वह भी कष्ट से छूटती है अन्य की क्या कथा ? प्रेमियों का प्रेम भी कब वियोग रूप में परिणित हो जाय इसे कौन जाने ॥ ८२ ॥

वज्र शृंखल बद्धानां मुक्ति रस्ति कथञ्चन।
स्नेह पाश परीतानां बन्धनं च पदे पदे ॥ ८३ ॥

जो व्यक्ति वज्र की शृंखला से आपाद मस्तक बंधा है—जकड़ा है उसे तो कदाचन बन्धन रहित किया जा सकता है परन्तु स्नेह-मोहरूपी पाश से जकड़े मनुष्य को पग-पग पर बन्धन ही प्राप्त होता है ॥ ८३ ॥

कथितानीह कर्माणि भव भ्रमण कारणम्।
तेषां हेतु तया ख्यातो बन्ध एव शरीरिणाम् ॥ ८४ ॥

यह मोह पास ही संसार भ्रमण का कारण है, मोह से कर्म आते हैं और कर्मों से संसार भ्रमण होता है। इस प्रकार चक्र का हेतु यह बन्ध का कारण मोह ही है ॥ ८४ ॥

तस्यापि हेतवः सन्ति विषया विश्व मोहिनः।
विमुक्ता स्तैः परं सौख्यं भुञ्जते भोग निस्पृहाः ॥ ८५ ॥

इस मोह जाल के भी हेतु—निमित्त हैं, संसारी मोही जीवों की विषय वासना। ये विषय जीवों को मुग्ध करने वाले हैं अर्थात् पर परिणति के कारण हैं। जो जीव इन विषय-कषायों से मुक्त होते हैं वे ही निस्पृही प्राणी धन्य पुरुष परम सुख के भोक्ता होते हैं ॥ ८५ ॥

अस्मादृशा मुमुह्यन्ति केवलं विषयाशया।
यथा मधुरया पूर्वं मधु लिम्पासि धारया ॥ ८६ ॥

हमारे समान अज्ञानी जीव इन विषयों में ही मुग्ध होते हैं। जिस प्रकार तलवार पर सहद-मधु लपेटने से वह मधुर हो जाती है पर चाटने वाले की जिह्वा च्छेदन कर उसे पीड़ित करती है तो भी विमूढ उसे ही चाटना चाहता है, उसी प्रकार हमारी भी दशा है ॥ ८६ ॥

ब्रुवन्तीमिति तां दुःखभार भंगुर मानसाम्।
एवमाश्वासयामास विमलादि मतिस्तदा ॥ ८७ ॥

इस प्रकार दुःखाकुलित, विरह ताप से संतप्त हृदया वह कह रही थी। इसका मानस दुःखभार से क्षार-क्षार हो रहा था। उसकी इस दशा को देखकर विमलामति आदि ने आश्वासन दिया एवं तत्त्वबुद्धि पूर्वक समझाने लगी ॥ ८७ ॥

यथा यैरजितं पूर्वं दुःखं वा यदि वा सुखम्।
निरोद्धुं प्रसरस्तस्य शक्रैरपि न शक्यते ॥ ८८ ॥

हे बहिन जीव जैसा शुभ या अशुभ कर्म उपार्जित करता है उसे तदनुसार सुख व दुःख प्राप्त होता है। विपाक काल में प्राप्त कर्म फल के प्रसार को रोकने में इन्द्र भी समर्थ नहीं हो सकता है ॥ ८८ ॥

पूर्वं कर्मानुसारेण स्नेह द्वेषौ च सुन्दरि।
जायेते तौ च वर्द्धेते चिन्त्यमानौ दिवानिशम् ॥ ८९ ॥

हे सुन्दरी ! पूर्वार्जित कर्मानुसार ही राग-द्वेष उत्पन्न होता है अर्थात् मित्र और शत्रु जीव को मिलते हैं। उसी प्रकार अहर्निश चिन्तवन करने से ये राग-द्वेष, मैत्री-शत्रुता बढ़ते हैं ॥ ८९ ॥

क्षणात् सुखं क्षणात् दुःखं क्षणाद्दासः क्षणात्पतिः।
क्षणिष्टाभीष्टयोः सङ्ग वियोगौ च क्षणादपि ॥ ९० ॥

यह संसार स्वयं क्षणभंगुर है। इसमें प्राप्त समस्त पदार्थ प्रतिक्षण परिणमन शील हैं। इसीलिए एक क्षण में सुख आता है दूसरे ही समय में दुःख आ धमकता है, किसी क्षण में जीव राजा होता है तो वही कभी

सेवक। कभी अनिष्ट का संयोग तो कभी इष्ट का वियोग समान रूप से बदल जाता है ।। ९० ।।

रूप लावण्य सौभाग्य भंगोयत्र मुहूर्ततः।
तत्रास्ति सखि किं क्वापि संसारे सुख संभवः ।। ९१ ।।

हे सखी ! जिस संसार में रूप, लावण्य, सुख, सौभाग्यादि एक अन्तर्मुहूर्त में नष्ट हो जाता है उस लोक में भला सुख कहां सम्भव है ।। ९१ ।।

भावा हर्ष विषादाद्यानि मेषमपि चक्षुषः।
विजित्य यत्र वर्तन्ते कुतस्तत्र भवेद्रतिः ।। ९२ ।।

हर्ष-विषादादि भाव जहां नेत्र की टिमकारमात्र समय में परिणमित हो जाते हैं—बदलते देखे जाते हैं वहां भला प्रीति किस प्रकार की जा सकती है ।। ९२ ।।

इदं हीनतमं चात्र जन्म स्त्रीणां सुलोचने।
मातापित्रोप्यहो यत्र परेभ्यः पालयन्ति ताः ।। ९३ ।।

हे सुलोचने ! यह स्त्री पर्याय महा हीनतम है माता-पिता के अधीन पालित होता है पुनः वे भी अन्य के आश्रित कर देते हैं अर्थात् पाणिग्रहण संस्कार कर कन्या को वर के आधीन करते हैं ।। ९३ ।।

अवाप्य च महानर्थ कारिकं नव यौवनम्।
मोहिता रति सौख्येषु जायन्ते कान्त जीविताः ।। ९४ ।।

नारी जन्म मिला फिर नव यौवन का प्रादुर्भाव और भी दुःखदायी है क्योंकि इस अनर्थकारि रूप यौवन के कारण पति के जीवित रहते उसके साथ महा मोहविमूढ हो रति सौख्य में विमुग्ध हो जाती हैं अर्थात् विवेक हीन हो आत्म स्वरूप को भूल कर विषय भोगों में ही लीन हो जाती है ।। ९४ ।।

वियोगे सति कान्तस्य सर्वतो म्लान मूर्त्तयः।
अन्तः शुष्यन्ति सन्तापं रंभोजिन्यो हि मं रिव ।। ९५ ।।

यदि पापोदय से पति वियोग हो गया तो सर्व प्रकार मलिन हो

जाती है। जिस प्रकार हिमपात होने से कमलिनी म्लान हो जाती है, रवि वियोग से कमल मुरझा जाता है उसी प्रकार वियोगिनी पतिवियोग के संताप रूप दाह में शुष्क हो जाती है। हृदय में संतप्त होती रहती है ॥ ९५ ॥

संजात रस भंङ्गास्ता बहिर्वर्ण मनोहरा: ।
अलङ्कार विनिर्मुक्ता: सुवृत्ता अपि शङ्किता: ॥ ९६ ॥

वह बाह्य में मनोहर रहते हुए भी रस विहीन हो जाती है। अलङ्कार रहित होने पर भी, उत्तम चारित्र पालने पर भी लोगों के द्वारा शंकित दृष्टि से देखी जाती है। अर्थात् पातिव्रत पालती हुयी भी शंका का विषय बन जाती है ॥ ९६ ॥

जीवन्ति क्लेशतो नित्यं प्रसादादि गुणोज्झिता: ।
निरीक्षितापशब्दास्तु कृतय: कुकवे रिव ॥ ९७ ॥

वह प्रसन्नतादि गुणों से विहीन होकर बड़ी कठिनता से क्लेशयुक्त जीवन को बिताती है। जो देखता है वही नाना अपशब्दों से सम्बोधित करता है जैसे कुकवियों की कृतियाँ—कविताएँ निन्दा की विषय बन जाती है ॥ ९७ ॥

हदमेव परं सर्व सम्पदा मास्पदं ध्रुवम् ।
शासने यज्जिनेन्द्राणां भक्तिरेव शुभानने ॥ ९८ ॥

हे सुमुखि ! इसलिए इस समय सर्वोत्तम यही है कि सम्पूर्ण सम्पदाओं की स्थानभूत जिनेन्द्र भक्ति करो। निश्चय ही जिन शासन भक्ति ही श्रेष्ठतम उपाय है क्लेश-संतापों की शान्ति के लिए ॥ ९८ ॥

साधारणे च सर्वेषां सुख दु:खे तनुभृताम् ।
अतश्चित्त समाधानं कृत्वा भुङ्क्ष्व पुरार्जितम् ॥ ९९ ॥

सामान्य से जिनेन्द्र भगवान की भक्ति सभी मानवों को सुख दु:खादि सभी अवस्थाओं में करनी चाहिए। अत: हे बुद्धिमति ! अब स्थिर चित्त हो समता से धैर्य पूर्वक पूर्वार्जित कर्मों का भोग करो ॥ ९९ ॥

इत्थं सम्बोधिता वादीत् स्व वृत्तान्त मशेषत: ।
यथोवेव यथाचेष्टा: सापि पद्मञ्जसादरं ॥ १०० ॥

इस प्रकार वात्सल्य भरे मधुर शब्दों से सम्बोधित किया । तथा अपना भी अशेष चरित्र सुनाया तथा उसके पति की आयु, वेषभूषा, वचनालाप प्रणाली, चेष्टा आदि के विषय में आदर पूर्वक जानने की इच्छा प्रकट की । उसने भी सर्व अवस्थाएँ स्पष्ट वर्णन की ।। १०० ।।

अनिस्यकत किं कान्तो मम कैंग भविष्यति ।
अथवा धिगिमं दुष्ट संकल्पम शुभाशुभम् ।। १०१ ।।

पति सम्बन्धी क्रिया कलापों-गुण धर्मों को सुनकर विमलामती भी विचार करने लगी "क्या मेरा भी पति वही हो सकता है ? मेरा पति होगा क्या" ? पुन: सोचती है कि, ऐसे अदृष्ट संकल्प-विकल्पों को धिक्कार है । क्यों शुभाशुभ विकल्पों को करूँ ? ।। १०१ ।।

सन्त्यनेक वयो रूप चेष्टितैः सदृशा नराः ।
अन्यः कोपि तथाभूतो भवितायं महामनाः ।। १०२ ।।

संसार में अनेकों पुरुष समान गुण धर्म, वय स्वभाव, रंगरूप वाले हैं । वह भी कोई महानुभाव मेरे पतिदेव सदृश गुण-गरिमा वाला होगा । मैं क्यों व्यर्थ तत्सम्बन्ध में अन्यथा कल्पना करूँ ? ।। १०२ ।।

तस्यै जगाद सा सर्वं निज वृत्तं विचक्षणा ।
मूत्वा समान दु:खा च सस्नेहं समुवाचताम् ।। १०३ ।।

इस प्रकार विचार कर विमलामती ने भी अपना सकल वृत्तान्त सुनाया । दोनों समान दुखानुभव कर अन्योन्य के प्रति प्रीति भाजन हुयीं ।। १०३ ।।

जिन धर्म रते नित्यं तप: स्वाध्याय तत्परे ।
कियन्तमपि तिष्ठाव: कालं भगिनि सत्कुले ।। १०४ ।।

तथा कहने लगी हे भगिनि ! नित्य ही जिन धर्म में रत होकर, तप स्वाध्याय में तल्लीन हो यहीं कुछ काल तक हम लोग रहें ।। १०४ ।।

पश्चात् ज्ञात यथा वृत्तं सर्व दु:ख विनाशनम् ।
करिष्यावो महा मोह मथनं निर्मलं तप: ।। १०५ ।।

पश्चात् पतिदेव सम्बन्धी निश्चित वृत्तान्त ज्ञात कर, समस्त दु:ख

विनाशक महामोह मल्ल का मंथन करने वाले निर्मल सुतप को स्वीकार करेंगी ॥ १०५ ॥

अत्रान्तरे समाज्ञाय वार्त्तां तां वत्सलः सताम् ।
समाजगाम तत्रैव श्रेष्ठो विमल संज्ञकः ॥ १०६ ॥

इसी बीच में विमल श्रेष्ठी को ज्ञात हुआ कि कोई शील शिरोमणि अज्ञात रमणी जिनालय में पधारी है। वह भी उसकी पुत्री के समान पति वियोग से दुःखित है। वह शीघ्र ही जिन मन्दिर में आया। उसका हृदय परम वात्सल्य से आप्लावित था। सहर्ष चैत्यालय में प्रवेश किया ॥ १०६ ॥

ततः स्तुत्वा जिनाधीशं निविष्टो निकटे तया।
चक्रस्तुते समुत्थाय प्रणामं तस्य सादरम् ॥ १०७ ॥

उस जिनेन्द्रभक्त विमल श्रेष्ठी ने जिनेन्द्र प्रभु का दर्शन कर स्तुति की। नमस्कारादि कर पुत्री के निकट आया और यथास्थान उसके पास बैठ गये। पुत्री ने भी उस आगत सखि के साथ उठकर पिता को उचित आदर से प्रणामादि किया ॥ १०७ ॥

अभिनन्द्य ततो प्राक्षीत् कुशलं नृप देहजाम्।
स लज्जा लोकयामास भगिन्या वदनं च सा ॥ १०८ ॥

राजकुमारी का अभिनन्दन कर श्रेष्ठी ने उसकी कुशलता पूछी। वह भी लज्जा से अपनी बहिन (विमला) का मुख देखने लगी ॥ १०८ ॥

ज्ञाताकूता च सा तातं बुद्ध त वृत्त विस्तरम्।
चकार मस्तकं धुत्वा चिन्तयामास सोप्यदः ॥ १०९ ॥

उसके अभिप्रायानुसार विमला ने बताया कि "ये मेरे पिताजी हैं" तथा अपने पिता को भी उस विपदापन्न राजकुमारी का वृत्तान्त सुनाया जिसे सुनकर सेठ शोकाभिभूत हो शिर धुनने लगा एवं विचारने लगा ॥ १०९ ॥

क्वेदं त्रिभुवनानन्दि वपुः रूपाः शुभ सूचकम्।
सर्वस्वं स्मर राजस्य दशा क्वेयं च दारुणा ॥ ११० ॥

ओह ! कहाँ तो यह तीनों लोकों को मोहने वाला अद्वितीय वय-यौवन है। सर्व को कामदेव से पीड़ित कराने वाला रूप है और कहाँ यह इसकी दारुण दशा है ॥ ११० ॥

तदिहैव विनिक्षिप्य व्यसने विधिना घुना।
चक्रेऽमृते कथं तत्र कालकूट विमिश्रणम् ॥ १११ ॥

हे भगवन ! यह क्या भाग्य की विडम्बना है, जो इस समय इस सुन्दरी को इस प्रकार की दारुण दशा में डाला है। मालूम होता है दुर्वार विधि ने अमृत में विष घोल दिया है। इस प्रकार क्यों किया यह समझ में नहीं आता ॥ १११ ॥

अथवा प्राक्कृतासात प्रबन्ध वश वर्त्तिन:।
एवं हन्त प्रजायन्ते जन्तवो दुःख भाजनम् ॥ ११२ ॥

अथवा पूर्वार्जित असाता वेदनीय कर्म के उदय के वशवर्ति हो इसे यह दुःख हुआ है। क्योंकि प्राणियों को निजार्जित कर्मानुसार व्याधि व्यसन पीड़ा सहन करना पड़ता है ॥ ११२ ॥

उवाच च सुते शोकं विमुच्य सकलं सुखम्।
तिष्ठात्र धर्म तन्निष्ठा भगिन्या सहितानया ॥ ११३ ॥

इस प्रकार कुछ क्षण विचार कर सेठ उससे बोला, हे पुत्रि ! चिन्ता मत करो, शोक छोड़ो, हर प्रकार सुख से इस (विमला) अपनी बहिन के साथ धर्म सेवन करते हुए रहो। सर्व सुविधा यहाँ समझो ॥ ११३ ॥

नूनं य एव नाथस्ते पतिरस्याः स एव हि।
केनाऽपि हेतुना चैते सफला वां मनोरथाः ॥ ११४ ॥

पुनः वह कहने लगा, निश्चय ही जो तुम्हारा पति है वही मेरी पुत्री का भी होना चाहिए किसी भी उपाय से आप लोगों का मनोरथ सिद्ध हो ॥ ११४ ॥

युवयो स्तस्य चात्राऽपि साकृतिः शुभ दर्शने।
यया भवन्ति निः शेष कल्याणानि निरन्तरम् ॥ ११५ ॥

हे शुभदर्शने ! तुम दोनों यहाँ वे ही शुभ क्रियाएँ करो जिससे समस्त कल्याण निरन्तर प्राप्त होते हैं ।। ११५ ।।

अतो यावत् कुतोप्येति तस्योदन्तोदया बति ।
तावत् प्रतीक्ष्यतां भद्रे सदनेऽत्रैव सौख्यतः ।। ११६ ।।

अतः जब तक कहीं से भी किसी भी प्रकार आपके पति का वृत्तान्त प्राप्त न होवे तब तक आप यहीं इसी जिनालय में सुख से निवास करो ।। ११६ ।।

इत्थमाश्वास्यते श्रेष्ठी जगाम निज मन्दिरम् ।
प्रीते परस्परं तत्र तिष्ठतस्ते यथा सुखम् ।। ११७ ।।

इस प्रकार शान्त्वना देकर सेठजी अपने घर चले गये । वे दोनों प्रीति पूर्वक-स्नेह से सुख पूर्वक वहाँ रहने लगीं ।। ११७ ।।

जिनेन्द्र पूजा यतिदानं जैन श्रुताभ्यास ध्यथा विमान शक्ते ।
जितेन्द्रियेते जनताविलोक्य चकार धर्मे बहुधा प्रयत्नं ।।११८।।

ठीक ही है जो धर्मनिष्ठ, जितेन्द्रिय हैं उनके सम्पर्क में उन्हें देखकर धर्म में अनायास मन स्थिर हो जाता है । वे दोनों जिन पूजा, दान, स्वाध्याय, ध्यानादि पूर्वक जीवन यापन करने लगीं । यतिदान और जिन पूजा आदि श्रावक धर्म हैं ।। ११८ ।।

मुक्तावली प्रभृति चित्र विधि प्रसक्ते ।
सम्यक्त्व मौक्तिक शुभा भरणाभिरामे ।।

तत्रस्थिते भुव मुपागत कीर्ति लक्ष्मी ।
यद्वत् प्रसन्न वदने मदनाति मुक्ते ।। ११६ ।।

जिसके पास मुक्तावली आदि उपवास हैं, विधिवत् इन व्रतों को जो धारण करता है, सम्यक् दर्शन रूपी मणियों का शुभ सुन्दर आभरण जिसने धारण किया है, उसके पास संसार का यश और वैभव स्वयं

प्राप्त होता है। इसी प्रकार काम-मदन वेग से रहित मनुष्य का मुख कमल प्रसन्नता से विकसित रहता है। अभिप्राय यह है कि काम विजयी उत्तम पुरुष या महिला का आनन (मुख) पङ्कज ब्रह्म तेज से देदीप्यमान भासुर होता है उसी प्रकार धर्मात्मा के पास कीर्ति और लक्ष्मी शोभित होती है। संसार में वस्त्रालङ्कार से अलंकृत रमणी जैसे शोभायमान मानी जाती है परन्तु यह यथार्थ नहीं, जो व्रतोपवासादि रूप अलङ्कार और सम्यक्त्वरूपी मणिमाला धारण करता है वही वस्तुतः सुन्दर है ॥ ११९ ॥

इति श्री गुणभद्राचार्य विरचित जिनदत्त चरित्र में पांचवां सर्ग समाप्त हुआ।

अथासौ जिनदत्तोऽपि निमज्य जवतो जले ।
गत पोतं प्रदेशं तम द्राक्षी दुत्थितस्ततः ॥ १ ॥

राजकुमारी अपने पुण्यानुसार, अपनी बुद्धिमत्ता से पुरुषार्थ धैर्य और धर्म का आलम्बन ले यथास्थान जा पहुँची। इधर जिनदत्त अगाध सागर में जा पड़ा। उसका क्या हाल हुआ यह ज्ञात करना आवश्यक है।

सेठ द्वारा धकेला जिनदत्त कुमार शीघ्र ही सागर की उत्ताल तरंगों में डूबने लगा। उसने देखा तट से यान जहाज जा चुके हैं। उसने किसी प्रकार दृष्टि उठायी और तट प्रदेश को सूना देखा ॥ १ ॥

जायते महतां चित्तं कोमलं नवनीतवत् ।
सम्पत्तौ कठिनं चेदं विपत्तावश्म सन्निभम् ॥ २ ॥

महा पुरुषों का मन अद्भुत होता है वह जिस प्रकार सम्पत्ति काल में सुख में मक्खन सा कोमल होता है उसी प्रकार विपत्ति में वज्र सा कठोर भी जाता है ॥ २ ॥

संभाव्येति पयोराशि भुजाभ्यां भय वर्जितम् ।
तरीतुं प्रारमेतेन किमसाध्यं मनस्विनाम् ॥ ३ ॥

इसी प्रकार महामना जिनदत्त ने पयोराशि असीम है देखा तो भी धैर्य पूर्वक निर्भय होकर दोनों हाथों से पार करना प्रारम्भ किया—तैरने लगा। ठीक ही है मनस्वियों के लिए संसार में क्या दुर्लभ है ? कुछ भी नहीं ॥ ३ ॥

प्राप्तञ्च तरता तेन पुरस्तात् फलकं तथा ।
मित्र मालम्बनं तेन गाढमालिङ्गितं च तत् ॥ ४ ॥

कुछ क्षण तैरने के बाद उसने अपने सामने एक लकड़ी के फलक को आते हुए देखा, शीघ्र ही उछल कर उसे सच्चे मित्र के समान पकड़ कर छाती से चिपका लिया। जोर से पकड लिया ॥ ४ ॥

पादाभ्यां क्वापि कटयासौ स्पृष्ठ वंशेन च क्वचित् ।
उदरेण गता शङ्कं तरति स्म निराकुलम् ॥ ५ ॥

इस फलक का सहारा लेकर कभी पैरों से कभी भुजाओं से कभी छाती के बल से, कभी कमर की ओर से, कभी पीठ के सहारे से तथा कभी पेट के सहारे से निर्भय होकर निराकुलता से तैरने लगा। जिसके मन में धर्म और पञ्च नमस्कार मन्त्र है उसे भला भय कहाँ ? ।। ५ ।।

यावत्तावत्पुरोदृष्टं गगने प्राकृताकृति।
पुरुष द्वितीयं तेन तत्रैकेन प्रजल्पितम् ।। ६ ।।

शनैः शनैः विशाल उदधि को चीर कर तट पर पहुँचा ही था कि सहसा आकाश प्रांगण में विशाल काय दो पुरुषों को देखा। उनमें से एक बोला ।। ६ ।।

रे रे नृकीट किं कर्म विहितं भवताधुना।
येना स्मदुक्षितं वार्धि पादाभ्यामवगाहसे ।। ७ ।।

रे रे नर कीट तू कौन है ? तू ने यह क्या कार्य प्रारम्भ किया है ? हमारे सामने आप इस उत्तम सागर को पैरों से रौंद रहे हैं ? ।। ७ ।।

शक्रोऽप्यत्र जल क्रीडां कर्तुमाशङ्कते मम।
दुरात्मन्नद्य किं यासि जीवन्नेव भवानितः ।। ८ ।।

हे दुरात्मन् ! मेरे सामने यहाँ इन्द्र भी क्रीडा करने में भयभीत हो कांपता है फिर भला तेरा क्या साहस ? क्या आज तू जीवित रह सकता है यहाँ ? ।। ८ ।।

विप्रलब्धोसि केनाऽपि मन्द भाग्यतया यथा।
मन्नाम न श्रुतं क्वापि येनैवं विचरस्यहो ।। ९ ।।

हे मन्द भाग्य क्या किसी के द्वारा तुम वंचित किये गये हो, या उन्मत्त हुए हो ? क्या मेरा नाम नहीं सुना है ? जो इस प्रकार निर्भीक क्रीडा कर रहे हो ? ।। ९ ।।

निशम्येति करं कृत्वा दक्षिणं क्षुरिकोपरि।
वामं च फलके दत्वा प्रोवाचेति स मत्सरम् ।। १० ।।

इस प्रकार के उद्धत वचनों को सुनकर, जिनदत्त श्रमित होते हुए भी चौकन्ना हो उठा, दाहिना हाथ छुरि-कटार पर जा पहुँचा, बायें हाथ से फलक को पकडा। और बडे अहंकार से ललकारा ।। १० ।।

शरन्मेघ इव व्यर्थं कुरुषे गलगर्जितम् ।
दूर एव किमाश्वेहि जुहोमि बडवानले ।। ११ ।।

अरे क्या व्यर्थ ही शरद् कालीन मेघों के समान कोरे गाल बजा रहे हो ? दूर ही से क्या गरजते हो आओ मेरे सामने, अभी बडवाग्नि में तुम्हारा होम करता हूँ ।। ११ ।।

आकाश गमनादेव मामस्थास्त्वं महत्तमम् ।
आत्मानमत्र यद्यान्ति पक्षिणोऽपि भयाकुलाः ।। १२ ।।

मात्र आकाश में गमन करने से तू अपने को महान समझता है ? भयाकुल पक्षी भी आकाश में उड जाते हैं ? अर्थात् तुम पक्षी समान क्या इसका अभिमान करते हो ? ।। १२ ।।

शङ्कन्तां हन्त शक्राद्या भोग लालस मानसाः ।
अहमस्मि पुनर्मल्लो मुञ्च शस्त्रमशंकितः ।। १३ ।।

यदि तुमसे शक्रादि-इन्द्रादि भीत होते होंगे, क्यों कि वे भोगों में लोलुप रहते हैं, मैं मल्ल हूं, तुम में शक्ति है तो निशंक होकर शस्त्र चलाओ ।। १३ ।।

प्रमाद्यतोऽपि सिंहस्य लुप्यते केसरच्छटा ।
कुरङ्गैः क्वापि रे मूढ दृष्टं वेति श्रुतं त्वया ।। १४ ।।

रे मूढ सिंह प्रमाद में भी पड़ा हो तो क्या हिरणों के द्वारा उसकी केशर छटा का हरण करते हुए कहीं तूने देखा या सुना है ? अर्थात् मैं यद्यपि बहुत थका हूँ तो भी क्या तेरे जैसे कायर को परास्त करने में पूर्ण समर्थ नहीं हूँ ? अवश्य ही समर्थ हूँ ।। १४ ।।

श्रुत्वेति तं महासत्त्व शालिनं समुवाच सः ।
कोपंमुञ्च महावीर मर्षयं त्वं परिक्षितः ।। १५ ।।

जिनदत्त के ओज भरे शब्दों को सुनते ही उस विद्याधर ने उसके बल-पराक्रम, और महत्त्व को समझ लिया । वह बड़े विनय से, शान्ति पूर्वक बोला हे महामते ! बुद्धिमन् ! प्रसन्न होइये, मेरे यथार्थ युक्तियुक्त वचन सुनिये ! कोप त्यागिये, मैंने मात्र आपकी परीक्षा की थी ।। १५ ।।

प्रसीव शृणु मद्वाक्यमपक्वं महा मते ।
यथाऽस्ति विजयार्द्धाद्रि दक्षिण श्रेणि मण्डले ॥ १६ ॥

आप संतुष्ट होइये, प्रसन्न हो मेरे सारभूत, यथार्थ वचन सुनिये। हे महामते ! मैं जो कहता हूँ उसे श्रवण करिये, "एक विजयार्द्ध पर्वत है उसकी दक्षिण श्रेणी में मण्डन स्वरूप राजधानी है ॥ १६ ॥

अशोक श्रीः खगाधीशो रथनूपुर पत्तने ।
विजया कुक्षि संभूता शृंगारादि मतिः सुता: ॥ १७ ॥

वहाँ रथनूपुर नाम का नगर है उसका राजा अशोक श्री है उसकी महादेवी विजया है। इसकी कुक्षि से प्रसूत शृंगारमती नामकी सुन्दर कन्या पुत्री है ॥ १७ ॥

तस्य सा सुकुमाराङ्गी प्राप्त यौवन मण्डना।
विद्याधर कुमारेषु वरं नेच्छति कञ्चन ॥ १८ ॥

उस नृप की कुमारी इस समय पूर्ण यौवन को प्राप्त हो गई है, उसके अंग-अंग से लावण्य झलकता है, किन्तु वह किसी भी विद्याधर कुमार को वरन करना नहीं चाहती है अर्थात् विद्याधर राजाओं में से किसी के भी साथ विवाह करना नहीं चाहती ॥ १८ ॥

ज्योतिर्विदा समादिष्टं तदेवं यः पयोनिधौ ।
तरिष्यति भुजाभ्यां स वरीता तव देहजाम् ॥ १९ ॥

उसके पिता ने चिन्तित होकर श्रेष्ठ ज्योतिषियों से परामर्श किया। उन्होंने निर्णय दिया कि जो पुरुष भुजाओं से सागर को पार करेगा-तरेगा वही आपके कन्यारत्न का वर होगा ॥ १९ ॥

तदर्थं प्रेषिता वा वां विद्याभृ चक्रवर्तिना ।
वायुवेग महावेगौविद्याधर कुमार को ॥ २० ॥

इसी हेतु से उस विद्याधर चक्रवर्ती द्वारा हम दोनों को वायुवेग के समान गतिवाले समझ कर भेजा है। हम दोनों विद्याधर पुत्र हैं। महावेग से गमन करने में समर्थ हैं ॥ २० ॥

ततः प्राप्तोसि पुण्येन विश्व कल्याण भाजनम् ।
नर रत्नं त्वमित्युक्त्वा तं चक्रे तट्वासिनम् ।। २१ ।।

आज महा पुण्य से आप जैसे विश्वकल्याण भाजन सत्पुरुष को प्राप्त किया। वस्तुतः आप नर रत्न हैं। महान् श्रेष्ठ एवं ज्येष्ठ हैं। आइये" इस प्रकार मधुर-प्रिय वचनों से सम्बोधन कर उसे सागर तट पर आसीन किया ।। २१ ।।

संस्नातो मधुराम्भोभि दिव्यवस्त्र विभूषितः ।
समारोप्य विमाने सौ ताभ्यां नीत स्तदन्तिकम् ।। २२ ।।

शीघ्र ही अमृत तुल्य शीतल जल से उसे स्नान कराया। अमूल्य वस्त्र धारण कराये, बहुविध मणि जटित सुन्दर आभरणों से अलंकृत किया। सस्नेह विमान में आरूढ़ कर विद्याधर राजा के पास ले आये। सच है पुण्य से क्या नहीं प्राप्त होता है, धर्म से कौनसा संकट नहीं कटता पुरुषार्थ से क्या नहीं मिलता ? "बुद्धिर्यस्य बलं तस्य"। गुणज्ञ की गुण गरिमा के समक्ष सम्पूर्ण विघ्न पलायमान हो जाते हैं और सुख सम्पदाएं अनायास प्राप्त हो जाती हैं ।। २२ ।।

रूपातिशय मालोक्य तस्यासौ दूरतो नृपः ।
ननमौ हृदि हर्षेण विग्रहः रोमाञ्चान्वित ।। २३ ।।

वसुपति कुमार को दूर से ही देखकर गद्गद् हो गया, हर्ष से सारा शरीर रोमाञ्चित हो उठा। उसकी रूप राशि का पान करने को लालायित हो उठा। अत्यन्त अनुराग भरे हृदय से उसका स्वागत किया, उसे नमन किया। अनुकूल-अभीष्ट सिद्धि होने पर किसे आनन्द नहीं होता ? होता ही है ।। २३ ।।

अचिन्तयच्च किं साक्षात् कन्दर्पोय मुपागतम् ।
नान्यथेयं विधारूप कान्ति लावण्य सम्पदः ।। २४ ।।

वह सोचने लगा क्या सचमुच यह साक्षात् कामदेव ही धरा पर मानव रूप धर कर आया है ? अन्यथा इस प्रकार रूप, लावण्य और कान्ति किस प्रकार होती है ? ।। २४ ।।

अथवा सन्ति संसारे सौभाग्य कुल मन्दिरम् ।
ते केऽपि पुरतो येषां मनोभूरपि लज्जते ।। २५ ।।

अथवा क्यों विकल्प करूं ? संसार में अनेकों भव्य-पुण्य पुरुष पहले हो चुके हैं जिनके सामने कामदेव भी लज्जा को प्राप्त हो जाता था। अर्थात् उन्हीं कुल-मन्दिरो मे यह भी एक मनोभुव का पराभव करने वाला है ॥ २५ ॥

यथा चिन्तित एवार्य वरो विद्याभृदुत्तमः।
लब्धः पुण्येन कन्यायाः कुत्राप्यप्राकृताकृतिः ॥ २६ ॥

इस प्रकार विमर्ष कर वह सोचने लगा, मेरी कन्या अतिशय पुण्य शालिनी है, उसने अपने पुण्य से ही यह अद्‌भुत स्वाभाविक सौन्दर्य युत, विद्याभूषित, गुण मण्डित उत्तम वर प्राप्त किया है। आश्चर्य कारक है इसकी सौम्य आकृति ॥ २६ ॥

स्वयं आगत अनुकूल कुमार को पाकर भू-पति आदि संतुष्ट हुए और अपनी कन्या के विवाह की योजना करने लगे। ज्योतिषी आये, पत्री-पत्रा दिखाये गये। तदनन्तर—

अथान्येद्युः शुभे लग्ने सुमुहुर्तेति धी शुभे।
विवाह मङ्गलं राजा कन्यायाः स्तेन संदधे ॥ २७ ॥

किसी एक दिन विद्याधर नृपति ने शुभ लग्न, शुभ मुहूर्त शुभदिन में राजकुमारी का मङ्गलमय विवाह सोत्साह उस कुमार के साथ कर दिया। विधिवत् नाना गीत-नृत्य आदि महोत्सवों के साथ दोनों का का पाणिग्रहण संस्कार सम्पादित कर दिया गया ॥ २७ ॥

विभाप्य श्वसुरं तेन दत्त चित्र विभूतिकः।
प्रतस्थे स्वपुरं साकं कान्तया कान्तया तया ॥ २८ ॥

विवाह में इसे नाना प्रकार के चित्र-विचित्र वस्त्राभरणादि प्रदान किये समस्त विभूति प्राप्त कर अपने घर लौटने की भावना जाग्रत हुयी। उसने अपने श्वसुर से विनम्र प्रार्थना की और अनुमति प्राप्त कर प्रिया-कान्ता के साथ निजपुर के लिए प्रस्थान किया ॥ २८ ॥

चञ्चच्चारुध्वजं यानं किङ्किणी क्वाण सुन्दरम्।
प्रलम्ब मौक्तिकोद्दाम दामाढ्यं बहु भूमिकम् ॥ २९ ॥

श्वसुर से प्राप्त सुन्दर विमान में आरूढ़ हुए। उस विमान की

शोभा निराली ही थी। चञ्चल सुन्दर ध्वजा फहरा रही थी, वायु से ताड़ित किंकिणियाँ-लटकते घुंघरू समूह रुन-झुन बज रहे थे। सुन्दर विशाल मोतियों की अनेकों मालाएँ लटक रहीं थीं। इन्द्र विमान को भी तिरस्कृत करने वाला शोभनीय था ॥ २९ ॥

वरं विमान मारूढः पुरोद्यान नदो नगान् ।
प्रियाया दर्शयन्नेष यावद्याति विहाय सा ॥ ३० ॥

ऐसे उत्तम, सुदृढ़ विमान में सवार हो अपने पुर की ओर प्रस्थान किया। विमान चलने लगा मार्ग में प्राप्त नदी, नद, नाले, नगरी, पुर, उद्यान, पर्वत आदि की शोभा को अपनी प्रिया को दिखाता हुआ आकाश मार्ग से चला जा रहा था ॥ ३० ॥

चम्पापुरी प्रवेशेहि जाता रात्रिस्ततः प्रिया ।
उक्ता तेन यथातिष्ठ जाग्रती त्वं स्वपीस्यहम् ॥ ३१ ॥

सायंकाल होते-होते विमान ने चम्पापुर में प्रवेश किया। शीघ्र ही रजनितम प्रसरित हो गया। विमान उतरा। सुन्दर उपवन में डेरा लगाया। मनोहर उपवन के लताकुञ्ज में शैया बनायी। कुमार ने अपनी कोमलाङ्गी सुकुमारी प्रिया से कहा—"हे कान्ते! मैं सोता हूँ तुम जागती रहना" ॥ ३१ ॥

समुत्थाय शयित्वासौ तामवादी दिति प्रिये ।
स्वपिहि त्वं गता शङ्का तिष्ठाम्येष पुरस्तव ॥ ३२ ॥

इस प्रकार प्रिय पत्नी को बैठा कर स्वयं सो गया। आनन्द से यथा समय शयन कर उठा और अपनी भार्या से बोला, "प्रिय अब तुम निशंक-निर्भय होकर सो जाओ, मैं यहीं तुम्हारे सामने बैठ जाता हूँ ॥ ३२ ॥

एवमस्त्विति संजल्प्य सा सुष्वाप सुनिर्भरम् ।
प्रसुप्तां तां ततो ज्ञात्वा जिनदत्त स्तिरोदधे ॥ ३३ ॥

"आपकी जैसी आज्ञा, वैसा ही करती हूँ" ऐसा कह कर, वह भोली बाला निर्भय हो आनन्द के साथ सो गई। तत्काल शीतल वायु के मधुर थपेड़ों से उसे गहरी निद्रादेवी ने आ दबाया। जिनदत्त ने पूर्ण स्वस्थ निद्रा में सोई ज्ञात कर अपनी विद्या से अपने को तिरोधान कर

लिया और उद्यान से निकल गया। उसे एकाकी वहीं सोते हुए छोड़ गया ॥ ३३ ॥

उन्मोटिताङ्ग यष्टिः सा यावदुत्तिष्ठते ततः।
अरण्यं वा विमानं तदद्राक्षी त्प्रियतोज्झितम् ॥ ३४ ॥

प्रातः काल हुआ, पौ फटी, निर्भय सोई कुमारी की निद्रा टूटी, वह अंगडाई लेती उठ बैठी, इधर-उधर दृष्टि डाली तो विमान और उद्यान को पतिदेव रहित पाया ॥ ३४ ॥

ददर्श च दिशस्तेन विनाम तिमिरा इव।
व्योमासोमं महीं मोहजननीं आत विभ्रमा ॥ ३५ ॥

भयातुर हो चारों ओर दिशाओं में नजर दौड़ाई, सर्वत्र काल समान घोर तिमिर दिखाई दिया। आकाश में चन्द्र भी नहीं था। मही मोह उत्पन्न करने वाली भ्रम पैदा कर रही थी। अर्थात् झुरमुट में कुछ भी स्पष्ट प्रतिभासित नहीं हो रहा था ॥ ३५ ॥

विललाप ततो यूथ भ्रष्टेव हरिणी भृशम्।
विषाद तरलां दृष्टिं पातयन्ती समन्ततः ॥ ३६ ॥

अपने समूह से बिछुड़ी हिरणी मृगी जिस प्रकार व्याकुल हो विलाप करती है उसी प्रकार वह करुण क्रन्दन करने लगी। विषाद युक्त दृष्टि बार-बार चहुँओर फेरने लगी, आँखें फाड़-फाड़ अपने प्रियतम को निहारने का असफल प्रयत्न करने लगी। जिस ओर दृष्टिपात करती निराश लौटती ॥ ३६ ॥

जीवितेश समुत्सृज्य मामत्र क्व गतो धुना।
निमेष मपि ते सोढुं वियोगमहमक्षमा ॥ ३७ ॥

हे जीवन रक्षक। मुझे अकेली छोड़कर इस समय आप कहाँ गये ! प्राणेश ! आपका वियोग एक क्षण भी सहन करने में असमर्थ हूँ ॥ ३७ ॥

नर्मशर्म्म करं कान्त त्यज चित्त विदाहि मे।
मालती मुकुल म्लानीं धत्ते हि हिममारुतः ॥ ३८ ॥

हे देव ! अब हास-उपहास का त्याग करिये, शीघ्र मेरी दशा

देखिये, मालती पुष्प के समान यह वियोग हिम का कार्य कर रहा है। जिस प्रकार शीतल वायु से हिम प्रपात होने से मालती कुसुम म्लान-मुरझाया हो जाता है उसी प्रकार आपके वियोग से मेरे शरीर की कान्ति क्षीण हो गई है, मुख सूख गया है ॥ ३८ ॥

रागान्धया कया थाशु किं हृत: खग कन्यया।
केनाऽपि वारिणा नाथ नर रत्नं कटाक्षितम् ॥ ३९ ॥

क्या किसी रागान्ध विद्याधर कन्या द्वारा आपका हरण किया गया है अथवा हे नाथ आप जैसे नर रत्न को किसी ने अपने कटाक्ष बाणों का शिकार बना लिया है ॥ ३९ ॥

स्वप्नेनाऽपि न मे निष्टं शिष्टं बान्धव सूचितम्।
कर्मोरष्ट मिदं जातं दस दुःख परं परम् ॥ ४० ॥

हे प्रिय, मैंने स्वप्न में भी यह नहीं सोचा। मेरे श्रेष्ठ बान्धवों ने भी कभी इस प्रकार की सूचना नहीं पायी। न जाने किस कर्म की यह दुःख परम्परा में मुझे लाकर डाला है। क्यों मुझे यह विपत्ति दी है ॥ ४० ॥

अथवास्ति न ते दोष: शेषोऽपि शुभ दर्शन।
ममैव पूर्व कर्माणि फलन्त्येवं सविस्तरम् ॥ ४१ ॥

अथवा हे शुभ दर्शने ! इसमें आपका तनिक भी दोष नहीं है मेरा ही पूर्व जन्म कृत अशुभ कर्म इस समय विस्तार पूर्वक अतिशय रूप में प्रति फलित हुआ है ॥ ४१ ॥

राज हंसो मया कान्ता सन्निधौ कुंकुमादिभि:।
प्राय: पिञ्जरित: किन्तु क्रीडा पद्मसर: स्थित: ॥ ४२ ॥
प्रातरेवाथ कान्ताया: सङ्गमाभि मुखो मया।
रथाङ्ग विहगश्चक्रे वियुक्तो युक्ति हीनया ॥ ४३ ॥

मनोहर क्रीडारूपी पद्म सरोवर के राजहंस, आप प्राय: प्रात:काल मेरे कुंकुम द्वारा पिञ्जरित दिखलाई पड़ते थे, अर्थात् कुंकुम मण्डित मेरे मुख रूपी पद्म सरोवर में क्रीड़ा करने से आप उस कुंकुम से रंग जाते और प्रात:काल लाल कमल की शोभा धारण कर मेरे आनन्द के हेतु होते थे, किन्तु आज चक्रवाक् के वियोग से वियुक्त चकवी समान मुझे

दुःख से पिञ्जरित कर दिया। मैं युक्ति विहीन वियोग में डूबी क्या करूँ ।। ४२–४३ ।।

किं मया मदना तङ्कावन्य जन्मानि विघ्निता।
सपत्नी वनिता वान्या भर्तु सङ्गम लालसा ।। ४४ ।।

क्या पूर्व जन्म में मेरे द्वारा मदन से आक्रान्त हो किसी सपत्नी को विघ्न उपस्थित किया गया या अन्य किसी वनिता के भोग में अन्तराय डाला गया। अर्थात् पति-संगम की लालसा युक्त किसी नारी के संयोग में मैंने अवश्य विघ्न डाला होगा उसीका फल यह पति-वियोग दुःख मुझे प्राप्त हुआ है ।। ४४ ।।

अगालित जलं पेयं कन्द मूलादि भक्षणम्।
जिनस्य पूजनं निन्दां करोमि पूर्व जन्मनि ।। ४५ ।।

अथवा बिना छना जल पिया होगा या कन्दमूल भक्षण किया है अथवा पिछले भव में जिनेन्द्र प्रभु की पूजा की निन्दा की है ।। ४५ ।।

तस्येदं फलमायात मलङ्घ्य मति दुःसहम्।
किमतो हं विधास्यामि भग्नाशा निर्जने वने ।। ४६ ।।

उसी का यह अलंघ्य और दुस्सह फल यहाँ मेरे सामने उपस्थित हुआ है। हे प्रभो ! निराश हो इस निर्जन वन में मैं अब क्या करूंगी ? ।। ४६ ।।

वल्लभा नाथ चेन्नाहं मुञ्च मां कुल मन्दिरे।
एकाकां तत्र यान्तीं माम यशो हन्ति दुर्वचम् ।। ४७ ।।

हे प्राण वल्लभ ! मुझे अनाथ कर एकाकी मत छोड़िये यदि एकाकी मैं अपने पिता के घर जाऊँ तो अवश्य मेरे यश का नाश होगा, मैं दुर्वचनों द्वारा निन्दा की पात्र बनूंगी ।। ४७ ।।

यद्यहं सापराधापि दीयतां दर्शनं लघु।
कारुण्यं क्व नु ते कान्त मामेवं यद्युपेक्षसे ।। ४८ ।।

हे नाथ ! यदि आप मुझे अपराधिनी समझ रहे हैं तो भी एक बार शीघ्र दर्शन दीजिये। क्या आपको तनिक भी दया नहीं जो इस प्रकार मेरी उपेक्षा कर रहे हैं ? ।। ४८ ।।

आक्रन्दन्त्या स्तत स्तस्याः स्थितेन जिन सद्मनि।
कुमार प्रेयसी युग्मेना श्रावि रुदितध्वनिः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार वह अनेक प्रकार से विलाप करने लगी, उसकी रुदन ध्वनि से वन गूंज उठा। आक्रन्दन का रव जिनालय में भी पहुँच गया। उस वन-उद्यान में स्थित जिनालय में ही पूर्व बिछुड़ी जिनदत्त की दोनों पत्नियाँ स्थित थीं उन्होंने इस करुण विलाप को सुना और अधीर हो उसके पास जाने को उद्यत हुईं ॥ ४६ ॥

निर्गताभ्यां ततस्ताभ्यां स वधाभ्यां विलोकिता।
निकटे वन देवीव तदुद्याने द्रुमान्तरे ॥ ५० ॥

शीघ्र ही वे दोनों मन्दिर जी से निकल कर उन द्रुम समूह-लता भवन में पहुँची जहाँ वनदेवी के समान सुन्दरी नर वनिता विलाप कर रही थी और रुदन का कारण पूछने लगीं ॥ ५० ॥

आश्वासिता च सा ताभ्यां बहुधा जिन मन्दिरम्।
जगाम संहृता शेष विमानादिविधिस्ततः ॥ ५१ ॥

उन दोनों ने उसे आश्वासन दिया, सान्त्वना देकर जिन-भवन में आने को कहा। उसने भी विमानादि समस्त सामग्री की विधि विशेष से एकत्रित कर चलने की तैयारी की। तीनों जिनेन्द्र प्रभु के मन्दिर जी आ गईं ॥ ५१ ॥

प्रसन्न वदना तत्र त्यक्तार्ता भक्ति तत्परा।
जिनाधीशं नमस्कृत्य तदन्तेऽते समुपाविशत् ॥ ५२ ॥

जिन भक्ति में परायण उसने आर्तध्यान का त्याग किया और प्रसन्न चित्त से श्री जिनेन्द्र प्रभु की भक्ति एवं स्तुति की, नमस्कार कर उनके पास आकर बैठ गई ॥ ५२ ॥

उदाजहार पृष्टा च तयोः स्व चरितं पुनः।
निशम्यान्योन्य मालोक्य स्मितं ताभ्यां सविस्मयम् ॥ ५३ ॥

उन दोनों सतियों ने उसका चरित्र पूछा। उसने भी अपने पति का सर्व वृत्तान्त यथार्थ रूप में कह सुनाया। अर्थात् समुद्र तैर कर आना,

विद्याधर नगर में पहुँचना, उसके साथ विवाह कर यहाँ तक लाना और रात्रि को अदृश्य हो जाना आदि समस्त वार्ता सुनायी तथा उसके स्वभाव गुण, धर्म, रूप लावण्य का विवरण भी बतलाया। जिसे सुनकर वे दोनों एक-दूसरी का मुखावलोकन कर मुस्कुराने लगीं और आश्चर्यान्वित हुयीं ॥ ५३ ॥

चिन्तितञ्च किमेतेन भवितव्यं प्रियेण नौ ।
तयोऽस्मद् वृत्त संवादि यदस्येषा वचोखिलम् ॥ ५४ ॥

वे दोनों ही विचार में पड़ गयीं और सोचने लगीं कि "क्या यही हम दोनों के प्राणनाथ हों ? क्योंकि जो कुछ यह कह रही है वह सब कुछ हमसे ही सम्बन्धित प्रतीत हो रहा है ॥ ५४ ॥

अथवा किमलीकेन विकल्पेनामुना धुना ।
यदेतो नथाकान्तं फलितः [illegible] [illegible] ॥ ५५ ॥

अथवा हमें इस समय व्यर्थ ही असद् विकल्पों से भी क्या प्रयोजन ? यही हमारे कन्त हों तो हों। हो सकता है "हमारा भाग्य रूपी वृक्ष फलित हो जाय" ॥ ५५ ॥

मदापि च खगाधीश देहजा मा शुचः शुभे ।
सम दुःखा यदावाभ्यां भवती च सधर्मिणी ॥ ५६ ॥

इस प्रकार तर्क-वितर्क कर वे दोनों उसे आश्वासित करते हुए कहने लगी, हे शुभे, हे विद्याधर पुत्री ! शोक का त्याग करो, हम सब एक समान दुःखाभिभूत हैं। अतः आप भी हमारी साधर्मिणी हैं। हे बहिन ! शान्ति धारण करो ॥ ५६ ॥

एवं विधानि संसारे सतां प्राण धारिणाम् ।
दुःखानि शतशः सन्ति तद्विषादेन किं सखि ॥ ५७ ॥

हे सखि ! संसार में इस प्रकार के सैंकड़ों दुःख हैं, संसारी जीव इन दुःखों से पीड़ित हो कष्ट सह रहे हैं। संसार का स्वरूप ही यही है फिर विषाद करने से क्या प्रयोजन ? अनेकों दुःखों का आना-जाना ही तो संसार है ॥ ५७ ॥

यथा विध परिज्ञात एव वृत्तान्ता कृता च सा ।
श्रुत्वा सन्धारितं चेतः स्वकीय तयका सदा ॥ ५८ ॥

इस प्रकार अपना जीवन परिचय ज्ञात करा एवं उनकी दुःखद कथा सुन उसे शान्ति हुयी। उसने मन में निश्चय किया ये ही मेरी अपनी सहेली हैं। क्योंकि मित्र वही है जो विपत्ति में धैर्य प्रदान करे। संकट में साथ निभाये। इस प्रकार सोचकर उनके साथ ही ठहरी ॥ ५८ ॥

दान पूजा श्रुताध्यायसक्त्ता: शुभ संगता:।
एवं तिस्रोऽपि ता: सन्ति तत्र प्रीता: परस्परम् ॥ ५९ ॥

अब तीनों मिलकर, श्री जिनेन्द्र प्रभु का अभिषेक-पूजन, श्रुत का अध्ययन, दानादि शुभ क्रियाओं में रत रहने लगीं। तीनों ही परम प्रीति से सम्यक्त्व पूर्वक अपने कर्त्तव्य में रत हो गयीं ॥ ५९ ॥

अथ रूपं परावृत्य वामनो भूयतां पुरीम्।
स वयस्य: कुमारोऽपि प्रविश्याजनि गायन: ॥ ६० ॥

इधर श्री जिनदत्त कुमार ने क्या किया ? यह ज्ञात करना चाहिए। विद्याधर कुमारी को सोते छोड़कर वह उद्यान से निकला। अपनी विद्या द्वारा वामन (बौना) का रूप बनाया और चम्पानगर में प्रविष्ट हुआ। अन्य कलाओं की भांति यह संगीत कला में भी अति निपुण था। अत: बौना रूप धारण कर नाना प्रकार के सुन्दर सुरीले गानों से जनता को रमाने लगा ॥ ६० ॥

गन्धर्व दत्त नामासौ चित्त कौतुक कारक:।
गीतै रासयायकै: कान्तै र्जहार जनता मन: ॥ ६१ ॥

इसने अपना नाम गंधर्वदत्त घोषित किया। यह सभी के चित्त को कौतुहल में डाल देता। सुन्दर-सुन्दर गीत गाता मनोरंजक कथाएँ भी संगीत में सुनाता, मधुर मनोहारी चरित्र गा गा कर सुनाता। इस प्रकार नगर की सारी जनता के लिए यह एक आकर्षण का विषय बन गया ॥ ६१ ॥

दत्वा जीवनकं राज्ञा विधृतो निज सन्निधौ।
गन्धर्वादि विनोदेन सभास्था भूजनं वल्लभ: ॥ ६२ ॥

यह वृत्तान्त वहाँ के राजा जीवक को विदित हुआ। राजा ने उसे अपने दरबार में बुलाया और उसकी आजीविका की व्यवस्था कर अपने

पास ही रख लिया। वह शीघ्र ही अपने विनोदी स्वभाव और गंधर्व विद्या से जनवल्लभ सबका प्रिय हो गया ॥ ६२ ॥

अन्येद्युर्गदितं राज्ञः पुरस्तादिति केनचित्।
यथा देवाश्र तिष्ठन्ति स्त्रियस्तिस्त्रो जिनालये ॥ ६३ ॥

एक दिन किसी समाचार वाहक ने राजा से कहा, हे प्रभो यहाँ उद्यान के जिनालय में तीन सुव्रता नारियाँ हैं। तीनों प्रेम से रह रही हैं ॥ ६३ ॥

रूप लावण्य सौभाग्य कान्तेनां परमं पदम्।
न हसन्ति न जल्पन्ति समं केनाऽपि ताः प्रभो ॥ ६४ ॥

वे आतिशायी रूप लावण्य और सौभाग्य से सम्पन्न हैं कान्ति का आगार हैं, विदूषी हैं किन्तु किसी के भी साथ न बोलती हैं, न हँसती हैं, न कोई विनोद ही करती हैं। अपने ध्यानाध्ययन में ही तल्लीन रहती हैं ॥ ६४ ॥

केनाऽपि हेतुने त्येवं श्रुत्वा भूमी भुजामुहुः।
आलोकित मुखोवादी द्विहस्येति स वामनः ॥ ६५ ॥

इस समाचार को सुनकर राजा के मन में एक जिज्ञासा हुयी और वह बार-बार उस बौना गंधर्वदत्त की ओर देखता हुआ विहँस कर उससे कहने लगा क्या आप उन्हें हंसा सकते हैं ? किसी भी निमित्त से उन्हें बाचाल कर सकते हैं ? ॥ ६५ ॥

अहो मानुष मात्रेऽपि श्रृंगार मुख मानसाः।
किमेवं स्थापय ध्वं भो हासयाम्येषता महम् ॥ ६६ ॥

अहो ! मनुष्य मात्र को श्रृंगार हास मुख वाले सभी को मैं हंसाने में समर्थ हूँ फिर उनकी क्या बात ? यह विचार कर वह गंधर्वदत्त कहने लगा, आप क्या कह रहे हैं "मैं अवश्य उन्हें शीघ्र हँसाता हूँ"। देखो ॥ ६६ ॥

विकास हास सम्पन्नान् द्रुमानपि नरेश्वर।
विनोदेन करोम्येव मानुषेषु तु का कथा ॥ ६७ ॥

मैं मनुष्यों की क्या कथा द्रुमों, पादपों को भी विकसित करने—

पल्लवित–पुष्पित करने में समर्थ हूँ। हे नरेश्वर शुष्क वृक्ष भी विकसित कर सकता हूँ अपने विनोद से मनुष्यों की क्या कथा ? ॥ ६७ ॥

तत्तोऽसौ प्रेषितो राज्ञा स्वल्प लोकैः समं मुदा।
जगामसौपि संकल्प संकेतः स्वजनैः सह ॥ ६८ ॥

राजा यह सुनकर प्रसन्न हुआ और अपने कुछ आदमियों के साथ उसे जिनालय में भेज दिया। वह भी अपने स्वजनों द्वारा संकेतिक संकल्पानुसार गया ॥ ६८ ॥

जिनार्चा प्रणिपत्यान्ते स तासां समुपाविशत्।
कृत गीतादिकः प्रोचे वयस्यैरिति सादरम् ॥ ६९ ॥

सर्व प्रथम विधिवत श्री जिनेन्द्र भगवान की पूजा की, स्तुति एवं नमस्कार कर उन तीनों पति विहीनाओं के पास आया। उसने सुमधुर स्वर में गीतादि सुनाये। वे आनन्द के साथ आश्चर्योत्पादक भी थे। तदनन्तर उन सखियों ने सादर निवेदन किया ॥ ६९ ॥

यथा कथानकं किञ्चित् कथ्यतां कौतुकावहम्।
श्रूयतां सावधानं भोः कथयामि स्व चेष्टितम् ॥ ७० ॥

हे भद्र ! कौतूहल उत्पादक कोई भी थोड़ा कथानक सुनाइये। गंधर्वदत्त ने भी स्वीकृत करते हुए कहा, भो ! भव्यात्मन् ! आप सावधानी पूर्वक सुनिये मैं स्वेच्छानुसार सुन्दर सरस कथानक कहता हूँ ॥ ७० ॥

वसन्तादि पुरादेत्य चम्पोद्यान मुपेयुषा।
यावत् कान्ता परित्याग स्तावत्तेन निवेदितम् ॥ ७१ ॥

अब उसने मनोहर अपना स्वयं का चरित्र सुनाना प्रारम्भ किया, वसंतादिपुर से प्रारम्भ कर चम्पानगरी के उद्यान में आकर अपनी पत्नी विमला का त्याग किया था, अर्थात् विमलादेवी को लता कुञ्ज में छोड़कर अदृश्य हो चला गया था वहाँ तक का उपाख्यान सुनाकर मौन हो गया ॥ ७१ ॥

तदाकर्ण्यालपत् स्मितदा विमलादि मतिस्तदा।
किं जातमिति भोः ब्रूहि सुष्ठुरम्या कथा तव ॥ ७२ ॥

उसके समाप्त करते ही, कथानक को सुनकर विमलामती विहंस कर बोली, अहो भद्र ! यह कथा आपने कहाँ से किस प्रकार ज्ञात की है ? आपकी कथा अद्भुत रसीली है। बहुत सुन्दर है ॥ ७२ ॥

अत्रान्तरे समुत्थाप्य नीतोऽसौ स्वजनैस्ततः।
यथा राज कुले वेला वर्त्तते गम्यतामिति ॥ ७३ ॥

पुनः क्या हुआ ? पूछते ही उसके साथियों ने कहा चलिए अब राज दरबार में जाने का समय है, आइये। पुनः कल आकर सुनाना। सत्य है चलो कह कर वह भी उनके साथ आ गया ॥ ७३ ॥

तथैवेत्य द्वितीयेऽह्नि स्ववार्त्तां सावदीरिता।
आरभ्य गमनं द्वीपे यावत् पातः पयोनिधौ ॥ ७४ ॥

द्वितीय दिन पुनः प्रथम दिवस की भाँति वेषधारी कुमार श्री जिनालय में पधारा। साथी-मण्डली भी साथ ही थी। क्रमशः प्रथम श्री वीतराग अरहंत प्रभु का दर्शन, पूजन, स्तवनादि किया। पुनः उस जिनभवन में उपस्थित तीनों सखियों के सान्निध्य में उपस्थित हुआ एवं कथानक प्रारम्भ किया। सिंहल द्वीप के लिए प्रस्थान करने के समय से कथा आरम्भ की और राजकुमारी के विवाहादि का वर्णन करते-करते अपने समुद्र में गिरने तक की कथा सुनायी। बस, अब इतना ही सुनाऊँगा कह चुप हो गया ॥ ७४ ॥

ततस्तूष्णिं स्थिते तत्र स्मित्वा श्रीमतीर ब्रवीत्।
किं ततो जनि भो भद्र सरसेयं कथा तव ॥ ७५ ॥

उसके शान्त-चुप होते ही द्वितीय रमणी श्रीमती विहंस उठी और बोली हे गुणज्ञ ! आप की कथा बड़ी ही रसीली है, यह तो बतलाइये कि आगे क्या हुआ ? सागर में गिर जाने पर जिनदत्त कुमार का क्या हुआ ? ॥ ७५ ॥

किं याति तव शृण्वत्या परायत्ता वयं पुनः।
वर्त्ततेऽत्र ततो यामो राज मन्दिर मुत्सुकाः ॥ ७६ ॥

अरे ! आप तो सुनने वाली हैं, सुनने में आपका क्या जाता है ? पर मैं तो पराधीन हूँ राजाज्ञानुसार चलना है। राजमन्दिर में जाने का

समय हो गया है मुझे जाने की जल्दी है, समय पर पहुंचना होगा न ? कर्त्तव्य पालन करना सत्पुरुषों का का कार्य है । ॥ ७६ ॥

निगद्येति गतः सापि सार्द्धं विमलया तया ।
सुचिरं चिन्तयामास किमेतदिति विस्मिता ॥ ७७ ॥

इस प्रकार निवेदन कर वह राजमन्दिर की ओर चला गया । इधर विमला और श्रीमती दोनों विचार में पड़ गयीं । दोनों ही बहुत देर तक परस्पर चकित हो चिन्तवन करती रहीं यह किस प्रकार घटित हुआ । इसे कैसे ज्ञात हुआ ? यह कौन है ? यह कथा क्या है ? इत्यादि प्रश्नों में उलझी रहीं ॥ ७७ ॥

अन्यस्मिन्नथ समागत्य वासरे तथापत्तने ।
आरब्ध स्वागमं प्रोक्तं स्वकथायामथापरम् ॥ ७८ ॥

पुनः तृतीय दिवस आया । वामन रूप धारी कुमार फिर उसी प्रकार जिनभवन में आ पहुँचा । उसकी जिन भक्ति भी तो अद्वितीय थी । नाना स्तोत्रों से जिनदेव प्रभु की पूजा भक्ति सम्पन्न की । तदनन्तर उन सतियों के पास आया और अपनी संगीत ध्वनि में आगे का कथानक प्रारम्भ किया अर्थात् समुद्र से पार हो विद्याधर नगरी में पहुँचना, विद्याधर राजा की कन्या के साथ विवाह कर लाना और इसी चम्पा-नगर के उद्यान में उस विद्याधरी को छोड़कर गायब होने तक का अपना पूरा वृतान्त सुना दिया । बस इतना ही कहकर वह जाने को उद्यत ही हुआ कि ॥ ७८ ॥

स्मित पीताननाबोचत्तोऽसौ खग देहजा ।
असमाप्य कथां मागा ब्रूहि भद्र ततः किमु ॥ ७९ ॥

मुस्कुराती हुयी वह विद्याधर की पुत्री अर्थात् इसी की तीसरी पत्नी बोल उठी, हे भद्र अधूरी कथा छोडकर नहीं जाना, कहिये इसके आगे क्या हुआ ? ॥ ७९ ॥

प्रातरेव भणिष्यामि सञ्जल्प्येति ततो गतः ।
सम्पन्न प्रिय संज्ञाशा विस्मिता स्ता अधिस्थिताः ॥ ८० ॥

आप सुनना चाहती हैं तो ठीक है मैं प्रातः काल सुनाऊँगा, अभी

तो समय हो गया। इस प्रकार कह कर चला गया। अब इन्हें भी विश्वास सा हो गया कि अवश्य ही हमें पतिदेव का सङ्गम हो सकेगा क्यों कि इन्हीं का चरित्र था यह॥ अतः पति–मिलन की आशा में आश्चर्य चकित हो तीनों वहीं रहीं ॥ ८० ॥

नरेन्द्रोपि तथा कर्ण्य विस्मितः पारितोषिकम्।
ददावस्मै जनः सर्वश्चित्रितश्च स्वचेष्टितैः ॥ ८१ ॥

राजा ने इसका वृत्तान्त सुना तो उसे भी बहुत आश्चर्य हुआ, अपनी प्रतिज्ञानुसार उसे अति सम्मान से सबको चकित करने वाला पारितोषिक (इनाम) दिया। सभी दर्शक इस घटना से चकित चित्र लिखित से प्रतीत हो रहे थे। उसका सम्मान किया क्यों कि तीनों सतियों को हंसा दिया और बुला दिया था। अपनी चेष्टाओं के अनुसार सम्मान प्राप्त कर सब अपने अपने स्थान पर चले गये ॥ ८१ ॥

अथान्येद्यु रभूत्तत्र महान् कोलाहलस्ततः।
प्रष्टाः कोऽपि नरेन्द्रेण किमेतदिति सो ब्रवीत् ॥ ८२ ॥

दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही नगरी में चारों ओर अचानक कोलाहल मच गया। मारो, भागो, चलो, हटो आदि शब्दों से भयंकर भगदड़ सी मच गयी। उसी समय राजा ने किसी पुरुष से इसका कारण पूछा। वह पुरुष इस प्रकार कहने लगा ॥ ८२ ॥

यथा राज गजो देव नाम्नामलय सुन्दरः।
आलान स्तम्भ मुन्मूल्य निःशङ्कं विचरत्ययम् ॥ ८३ ॥

हे देव! मलय सुन्दर नाम का पट्टगज आलान से बंधन तोड़कर भाग निकला है। आलान स्तम्भ को ही उसने उखाड़ फेंका है। इस समय निशंक और निर्भय नगरी में विचरण कर रहा है। उसके भय से त्रस्त जन कोलाहल कर रहे हैं ॥ ८३ ॥

यः कोपि वशमायासि पशुरस्य नरश्च वा।
विलम्बेन विना नाथ सयाति यम मन्दिरम् ॥ ८४ ॥

उसके सामने जो भी पशु या मनुष्य आया नहीं कि उसे वश कर शीघ्र ही यमालय में भेज देता है अर्थात् सबको मार डालता है ॥ ८४ ॥

प्राकारोद्यान सद्देश्म देवता यत्र नान्ययम् ।
भस्मी करोति भूपाला मन्यन् भट पेटकम् ॥ ८५ ॥

प्राकार, उद्यान, सुन्दर मकान, देव घर आदि अन्य जो भी हो जिधर गया उधर उन सबको भस्म सात कर देता है, हे भूपाल ! समझिये यह महाभट पेटक हो गया है । जो मिला उसके पेट में समाया ॥ चारों ओर नाश कर रहा है । किसी के वश नहीं आ रहा है । अर्थात् सभी सुभट अभट हो गये हैं । सबकी सामर्थ्य से बाहर हो गया है ॥ ८५ ॥

तन्निशम्य महासत्त्वाः प्रेषिता वीर पुङ्गवाः ।
राज्ञा ते पि न संशेकु र्दमने तस्य दन्तिनः ॥ ८६ ॥

यह सुनकर महीपति–राजा ने अपने महावीर सुभटों को जो वीरों में श्रेष्ठतम थे उन्हें उस गज को वश करने के लिए आज्ञा दी । शीघ्र ही वे उस उन्मत्त सिंह समान हाथी के समक्ष आये । किन्तु सबका पुरुषार्थ उसी प्रकार क्षीण हो गया जैसे चन्द्रोदय से तारागणों का । कोई भी उस दन्ति को आधीन नहीं कर सका । राजा के वीर भी परास्त हुए । दन्ति–हाथी का आतङ्क बढ़ता ही गया ॥ ८६ ॥

एवं दिन त्रयं तत्र पीडयन्नखिलाः प्रजाः ।
बम्भ्रमिति करी यावत् पटहस्तावदा हतः ॥ ८७ ॥
यथा हस्ति न मेतं यः कुरुते वश वर्तिनम् ।
कन्या प्रदीयते तस्मैं सामन्तश्च वितीयते ॥ ८८ ॥

समस्त प्रजा को पीड़ित कर डाला । इस प्रकार घोर उपद्रव करते हुए तीन दिन व्यतीत हो गये, पर किसी भी उपाय से वह शान्त नहीं हुआ, अन्त में निराश हो राजा ने नगर में पटह बजवाया अर्थात् डोंडी पिटवायी कि जो शूरवीर महाभाग इस उन्मत्त दन्ति के दाँत तोड़ेगा अर्थात् वश में करेगा, मैं उसके साथ अपनी कन्या का विवाह वैभव पूर्वक विधिवत् करूँगा एवं कन्या के साथ अनेक सामन्तादि भी प्रदान करूँगा अतएव शीघ्र ही इसे वश में करो ॥ ८७–८८ ॥

श्रुत्वेति वेगतः स्पृष्ट्वा पटहं वा मनस्ततः ।
आजुहाव गजाधीशं सोऽप्यगाद्दुष्करः पुरः ॥ ८९ ॥

यह भेरी–नाद वेषधारी कुमार ने सुना, भेरी को स्पर्श किया और मन से स्वीकार किया, शीघ्र ही उस दुष्कर कार्यभार को ले उस काल

भैरव स्वरूप गज के सामने आया दोनों आमने-सामने हुए और घोर तुमुल के साथ युद्ध प्रारम्भ हुआ ।। ८९ ।।

प्रष्ठतः पार्श्वतो धावन्न ग्रतो जठरा धः ।
ताडयन्निविडं लोष्ठ मुद्गरैश्चतुरः क्वचित् ।। ९० ।।

कुमार कभी सामने, क्षण में बगल में कभी पेट के नीचे, कभी पीछे उस हाथी को ताड़ना देने लगा । कभी अंकुश से, कभी लोहे की शांकल से तो कभी पत्थरों से जो हाथ लगा उसी से उसे मार-मार कर ठिकाने लाया । मुद्गरों द्वारा वश में किया । चारों ओर से आहत हुआ वह भी शान्त हुआ । ठीक ही है "शठे-शाठ्यं समाचरेत्" । अति दुर्जन सरलता से वश में नहीं आता ।। ९० ।।

स्व शिक्षा लाघवं सम्यग्दर्शयन् बलमादिभिः ।
आरूढः श्रममानीय तं दत्त करिणस्ततः ।। ९१ ।।

कुमार भी श्रम की अपेक्षा न कर शीघ्र ही उस पर आरूढ़ हो गया । अपनी शिक्षा से उसे लाघव गुण युक्त बना दिया । इच्छानुसार चारों ओर घुमाने लगा । भले प्रकार उसे आज्ञाकारी सेवक समान बना लिया ।। ९१ ।।

साधुवादं समासाद्य जनेभ्यो नृप पुङ्गवम् ।
प्रणम्यालान मानीय करिणं स सुखं स्थितः ।। ९२ ।।

चारों ओर जन-समुदाय उसे साधुवाद देने लगे अर्थात् वाह, वाह, धन्यवाद, धन्य आपका धैर्य बल, पराक्रम इत्यादि प्रकार से उसका—कुमार का अभिनन्दन करने लगे । कुमार भी उस पर आसीन हो राज-दरबार में लाया पुनः यथा स्थान आलान में लेजा कर बांध दिया । पुनः वह नर पुङ्गव राजा को नमस्कार कर यथा स्थान सुख से बैठ गया ।। ९२ ।।

"इस प्रकार श्री गुणभद्राचार्य द्वारा प्रणीत जिनदत्त चरित्र में छटवां सर्ग समाप्त हुआ" ।

(सप्तम्—सर्ग)

अथामात्यैः समं राजा तदेति प्रविचारितम् ।
कुलं यस्य न जानीमो दीयतां देहजां कथम् ।। १ ।।

कुमार ने दुष्ट–उन्मत्त महाभीषण गज को वश में कर लिया। तदनुसार राजा को उसे कन्या रत्न प्रदान करना है। कन्या अपने जातीय शुद्ध कुल वंश परम्परा वाले को ही दी जा सकती है। अतः आगमानुसार कन्या प्रदान करना चाहिए यह सोच कर उसने अपनी मन्त्रिमण्डल को बुलाया एवं विचार-विमर्ष करने लगा कि—हे मन्त्रिगण ! जिसका कुल वंश, जाति अज्ञात है उसे कन्या किस प्रकार दी जाये ? अतः अन्य पारितोषिक दिया जा सकता है परन्तु कन्या प्रदान के लिए तो इसका कुलादि पता लगाना ही होगा ।। १ ।।

तं स्वामि किमेतेन विकल्पेन महीपते ।
अथोत्था कृतिरेवास्य कुलं कल्याण सूचकम् ।। २ ।।

इस पर मन्त्रियों ने उत्तर दिया राजन् ! यह सत्य है परन्तु इसके कुल वंश शुद्धि निःसंदेह है। क्योंकि कल्याण सूचक इसकी आकृति ही इसे उत्तम वंशोत्पन्न सूचित कर रही है। अतः इस सम्बन्ध में आपको कुछ भी विकल्प-सन्देह नहीं करना चाहिए ।। २ ।।

विनोदेनामुना कोऽपि क्रीडत्येष महामनाः ।
पयोद पटले नेव प्रच्छन्नो दिवसाधिपः ।। ३ ।।

वस्तुतः यह कोई महामना है, विशिष्ट पुरुष है। मात्र क्रीड़ार्थ यह रूप परिवर्तन कर इस प्रकार की चेष्टा कर रहा है। मेघ पटल के अन्तर्गत छिपे हुए सूर्य की भाँति यह कोई प्रतिभाशाली है ।। ३ ।।

शौर्यं मस्य यशो रूप विज्ञानकानं नाकिनामपि ।
चमत्कारं करोत्येषो चिन्त्य मस्य विचेष्ठितम् ।। ४ ।।

देखिये जरा इसकी चेष्टा, यह अपने शौर्य, पराक्रम, यश, रूप-लावण्य, विज्ञान कलाओं द्वारा इन्द्र को भी आश्चर्यचकित करता है। इन्द्र को भी पराभूत करने वाली हैं इसकी क्रियाएँ ।। ४ ।।

विशुद्धो भय पक्षाय कन्या स्मै दीयतां ततः।
किञ्चासाद्येऽवयं देव प्रतिच्छन्न इतवापरः ॥ ५ ॥

इसलिए हे नराधिप ! आप निशंक होकर इसे उभय कुल विशुद्ध समझिये और अवश्य कन्या रत्न प्रदान कर अपने यश को बढ़ाइये। हम अधिक क्या कहें, इससे बढ़कर आपको अन्य और कौन वर कन्या के योग्य मिलेगा। इसके समान यही है ॥ ५ ॥

प्रतीतिरस्ति चेन्नाथ प्रच्छ्यता मयमेव हि।
वचः श्रुत्वेति राजा सौ प्रष्ठ एवं समन्त्रिणा ॥ ६ ॥

हे नाथ ! हमें तो पूर्ण प्रतीति है फिर भी यदि आप चाहें तो इसे ही पूछिये, आपकी शंका निवृत्य हो जायेगी। इस प्रकार मन्त्रियों के वचन सुनकर राजा ने मन्त्रियों सहित उस कुमार से प्रश्न किया ॥ ६ ॥

विज्ञानाकृति सत्वाद्यैं गुणैर्ज्ञातो वरोमया।
प्रच्छन्नः कोऽपि भद्र त्वं नूनं नर शिरोमणिः ॥ ७ ॥

हे भद्र, आपके विज्ञान कला, कौशल, धैर्य, वीर्य, पराक्रम, आकृति आदि गुणों द्वारा मैंने सम्यक् प्रकार ज्ञात कर लिया है कि आप प्रच्छन्न रूप में कोई महानात्मा है, निश्चय ही नर शिरोमणि हैं, नर रत्न हैं ॥ ७ ॥

प्रसीद वद सन्देहं हर स्वं प्रकटी कुरु।
तथाप्यात्मानमित्येव युक्तः स्मित्वा बजल्प सः ॥ ८ ॥

तथापि हे भद्र, हम पर प्रसन्न होइये, हमारे सन्देह को दूर करिये। अपने को प्रकट कीजिये। इस प्रकार राजा के द्वारा प्रार्थना करने पर भी अपने को उसी आकृति में रखकर मुस्कुराता हुआ कुमार कहने लगा ॥ ८ ॥

वसन्तादि पुरावासि जीवदेव वणिक् पतेः।
जिनदत्त इति ख्यातः सूनुरस्मि नरेश्वर ॥ ९ ॥

हे राजन् ! मेरा जीवन चरित्र-कुल वंश जानना चाहते हैं तो सुनिये—वसन्तादिपुर है। उस नगर में जीव देव नामक नरोत्तम वणिक् पति है। उस श्रेष्ठी का मैं पुत्र हूँ। मेरा नाम है जिनदत्त कुमार। हे नरोत्तम, यह है मेरा वंश ॥ ९ ॥

त्वदीय श्रेष्ठिन: पुत्री विमलस्यैकापरा प्रभो ।
सिंहलेशस्य विद्याभृच्चक्रिणो दुहितापरा ॥ १० ॥

हे नरेश ! और सुनिये, आपके नगर श्रेष्ठी की अनुपम लावण्यवती गुणवती कन्या विमला मेरी प्रथम पत्नी है । द्वितीय सिंहल द्वीप के नरेश की पुत्री और तीसरी चक्रवर्ती विद्याधर नृप की पुत्री मेरी पत्नियाँ हैं ॥ १० ॥

एता तिस्रोऽपि मद्भार्या स्तिष्ठन्ति जिन वेश्मनि ।
मदीय सङ्ग मोत्कण्ठाकुलिता: कुल केतव: ॥ ११ ॥

ये तीनों मेरी भार्या इस समय श्री जिनालय में उपस्थित हैं । मेरे संगम के लिए तीनों उत्कण्ठित हैं । कुल की ध्वजा स्वरूप मेरे मिलन के लिए आकुलित हो रहीं हैं ॥ ११ ॥

विपदां सम्पदां वैव भाजनो भवतां मया ।
अधुना प्राप्तविधेन क्रीडेति बहुधा कृता: ॥ १२ ॥

ये तीनों मेरी विपदा और संपदा में समान भागी हैं, इस समय मैं विद्याबल से रूप परिवर्तित किये हूँ यह मात्र क्रीड़ा है ॥ १२ ॥

तदाकूतं ततो ज्ञात्वाहूता स्ता: पृथिवी भुजा ।
तिस्रोऽपि नायिकास्ताश्च प्राप्ता: कञ्चुभि: समम् ॥ १३ ॥

इस प्रकार कुमार के कथन से उसके अभिप्राय को राजा समझ गया और तत्काल उसने उन्हें लाने के लिए कञ्चुकी को भेज दिया । यथा योग्य सम्मान पूर्वक वे तीनों पत्नियां उस कञ्चुकी के साथ आ उपस्थित हुयीं ॥ १३ ॥

अत्रोपविश्यतां पुत्र्य: स्वामिना भणिता इति ।
प्रणम्यो पाविशन्नन्ते विनीतास्ता यथाक्रमम् ॥ १४ ॥

उन्हें आयी देख राजा ने स्नेह पूर्वक कहा हे पुत्रियो ! यहाँ विराजिये । नृपति की आज्ञानुसार वे विनय पूर्वक क्रमानुसार राजा को प्रणाम कर बैठ गयीं ॥ १४ ॥

उक्तं ततो नरेन्द्रेन महासत्यो ववत्ययम् ।
एतास्तिस्रोऽपि मद्भार्या: सत्यमेवं मृषा किमु ॥ १५ ॥

आश्वस्त हो जाने पर राजा ने उनसे पूछा, हे देवियों, यह महाभाग महा पराक्रमी कहता है कि (आप तीनों को) ये मेरी भार्या हैं। क्या यह सत्य हैं? अथवा मृषा-झूठ है? ॥ १५ ॥

अन्योन्य मुखमालोक्य ताभिरूचे पति प्रभो।
न भवत्येष जानाति वार्त्तां तस्यैव केवलम् ॥ १६ ॥

यह सुनकर वे तीनों एक दूसरे का मुख देखने लगीं कुछ क्षण विचार कर कहने लगीं, हे नरेश यह हमारा पति नहीं केवल हमारे पतिदेव की वार्ता को जानने वाला है। अर्थात् हमारे पति का वर्णन यथार्थ करता है परन्तु यह स्वयं वह नहीं है ॥ १६ ॥

अत्रान्तरे कुमारोपि पुलकाञ्चित विग्रहः।
आविर्भवत् स्मितं वक्त्रं पिदधाति स्म वाससा ॥ १७ ॥

इसी बीच कुमार हर्ष से पुलकित हो गया। वह अपने मुख को वस्त्र से ढंक कर हंसने लगा और तत्काल रूप परिवर्तन कर लिया ॥ १७ ॥

भूयोप्युवाचभूपालः पुत्र्यः सम्यक् प्रविच्यताम्।
ताभि रूचे न सादृश्यमपि तस्यास्ति किं बहुः ॥ १८ ॥

पुनः नृपति ने पूछा हे पुत्रियो! आप सम्यक् प्रकार विवेचना कर यथार्थ कहो क्या यह आपका पति है? वे कहने लगी, देव! इसमें हमारे पतिदेव की तनिक भी समानता भी नहीं है पति होने की फिर क्या बात है। हम अधिक क्या कहें आपसे ॥ १८ ॥

कुमारेण ततस्त्यक्त्वा वामनत्वं कृता कृतिः।
जिनदत्तस्य संजातः श्याम वर्णेन केवलम् ॥ १९ ॥

अब कुमार ने अपनी वामन-बौने की आकृति को छोड़ दिया और यथार्थ जिनदत्त की आकृति को धारण कर लिया परन्तु शरीर रंग श्याम–काला बना लिया ॥ १९ ॥

विस्मिताभि स्ततस्ताभिः स लज्जाभिश्च भूपतिः।
प्रोचे तात स एवायं परं वर्णेन नो समः ॥ २० ॥

इसे देखकर वे तीनों अद्भुत आश्चर्य में डूब गयीं, लज्जा से

राज दरबार में जिनदत्त एवं उसकी तीनों पत्नियां

पानी-पानी हो गईं, हैरत में पड़ गयीं, फिर भी साहस कर राजा के आग्रहानुसार बोलीं, हे तात ! यही हमारे प्राणनाथ हैं किन्तु वर्ण से उनके समान नहीं हैं ॥ २० ॥

ततः स्मित्वा भयस्सोऽपि तप्तजाम्बूनदच्छविः ।
तथा यथाभ वांश्चित्र लिखिता इव तास्तदा ॥ २१ ॥

इस प्रकार सुनते ही हंसकर कुमार ने तपाये हुए सुवर्ण की भाँति अपने शरीर की वास्तविक छवि को धारण कर लिया। यह विचित्र सहसा परिवर्तन देखकर तीनों चित्र लिखित सी बैठी रह गयीं ॥ २१ ॥

उदञ्चच्च रोमाञ्च स्फुटत् कञ्चुक जालिकाः ।
समुत्थाय ततो लग्नाः स्वामि पादद्वये मुदा ॥ २२ ॥

उनका रोम-रोम उल्लसित हो गया। शरीर में सर्वत्र रोमाञ्च हो जाने से ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों हर्षांकुरों की चोली ही धारण की है। वे शीघ्र उठीं और अपने पतिदेव के चरणों में आनन्द से जा लिपटीं ॥ २२ ॥

यः पुरा ववृधे तीव्रस्तासां विरह पावकः ।
आनन्दाश्रु प्रवाहेण तेनासौ शमितो ध्रुवम् ॥ २३ ॥

जो पूर्व विरह से तीव्र ताप बढ़ रहा था वह पतिवियोग की अग्नि का संताप इस समय आनन्द के अश्रु प्रवाह से उसने (कुमार ने) बुझा दिया। निश्चय ही उनका हर्ष अपूर्व था ॥ २३ ॥

यद भावि तदा तासां सौख्यं किमपि मानसे ।
तत्र तस्यापि तत्सर्वं कवि वाचामगोचरम् ॥ २४ ॥

उस समय उनके मन में कितना सुख-संतोष हुआ वह सर्व कवि की वाणी से अगोचर है। अर्थात् उसका कथन करना लेखक की लेखनी द्वारा नहीं किया जा सकता उस मिलन का दृश्य अपूर्व ही था ॥ २४ ॥

संभाविताश्च तास्तेन सलज्जा निकटे स्थिताः ।
भूषणाम्बर ताम्बूल पुष्पैः राज्ञा प्रपूजिताः ॥ २५ ॥

इस प्रकार कुमार के निकट समर्यादा, लज्जापूर्वक उन्हें देखकर

निश्चित संभावित कर लिया कि ये इसी की भार्याएँ हैं। उसी समय राजा ने सुन्दर अलङ्कार, वस्त्र, ताम्बूल पुष्पादि द्वारा उनकी पूजा की अर्थात् विशेष सम्मान किया ॥ २५ ॥

ज्ञात वार्ता स तत्रैत्य विमलो वणिजां पतिः ।
नत्वेशं गाढ मालिङ्ग्य जिनदत्तमुपाविशत् ॥ २६ ॥

यह वार्ता बिजली की भाँति शीघ्र ही नगर में फैल गयी। विमल वणिक् पति ने सुनी तो तत्क्षण वहाँ आया। राजा को प्रणाम कर जिनदत्त कुमार के पास आ प्रीति से गाढालिङ्गन किया। उसने भी पिता स्वरूप श्वसुर को नत हो प्रणाम किया ॥ २६ ॥

क्षेमादिकं परिपृच्छ्य संप्राप्तावसरो नृपम् ।
उवाचेति यथा देव कुमारः प्रेष्यतां गृहम् ॥ २७ ॥

परस्पर क्षेम कुशल पूछी, और बैठ गया। वार्तालाप करते हुए अवसर पाकर सेठ ने राजा से निवेदन किया, हे देव कुमार को मेरे घर जाने की आज्ञा दीजिये ॥ २७ ॥

राज्ञावादीदमेवास्य गेहं गुण महोदधेः ।
यद्यप्येवं तथापीश गाढमुत्कण्ठिता वयम् ॥ २८ ॥

यह सुनकर राजा ने कहा इस गुणसागर का यही घर है। "यद्यपि यह आपका कथन सत्य है तो भी हम अत्यन्त उत्कण्ठित हैं" सेठ ने प्रत्युत्तर दिया। हमारा पूरा परिवार कुमार के दर्शन को लालायित है ॥ २८ ॥

संभाषादौ कुमारस्य किञ्चौचित्य क्रमोस्तिनः ।
इति तस्योपरोधेन विसृष्टोसौ महीभुजा ॥ २९ ॥

दोनों के इस प्रकार वार्तालाप को सुन कुमार ने कहा इस समय इनका कहना उचित है, मैं भी जाना चाहता हूँ क्योंकि मेरा भी औचित्य इसी में है। यही क्रम भी ठीक है। कुमार का आग्रह देखकर नृपति ने भी अनुमति दे दी। अर्थात् कुमार को सेठ के घर भेज दिया ॥ २९ ॥

सकान्तं सोऽपि तं नीत्वा मन्दिरे मुदितो भृशम् ।
सादरं विदधे तस्य तत्रौचित्यं यथा विधि ॥ ३० ॥

श्रेष्ठी भी अपने जमाई को पुत्रियों के साथ अपने घर ले गया और आनन्द से आदर पूर्वक उसका यथोचित सम्मान दान किया। यथा विधि स्वागत किया ॥ ३० ॥

प्रारेभे ततः कर्तुमुत्सवः सत सतधाजनः।
पौरः सर्वोपि चायात स्तद्दर्शन समुत्सुकः ॥ ३१ ॥

सेठ ने महान उत्सव प्रारम्भ किया। नगर के नर–नारी उसके दर्शनों को सैकड़ों की संख्या में उमड़ पड़े। सैकड़ों प्रकार के गीत नृत्यादि होने लगे। सभी उत्सुक थे ॥ ३१ ॥

तथा काल ततश्चक्रे सुख संभाषणविक्रम्।
श्रेष्ठिना सोऽपि वृत्त स्वमशावींवादि तस्ततः ॥ ३२ ॥

आने जाने वालों का तांता कुछ समय बाद शान्त हुआ। यथावसर श्रेष्ठी ने कुमार से सुख संभाषण करना प्रारम्भ किया। कुमार ने भी अपना समस्त वृत्तान्त आदि से अन्त तक क्रमशः सुनाया ॥ ३२ ॥

नितम्बिन्यो पितास्तस्य साभिज्ञानं सुविस्मिताः।
अश्रौषु वृत्तमात्मीयं स्यगदंश्च यथा क्रमम् ॥ ३३ ॥

अपनी पत्नियों का वृत्तान्त भी सुनाया। श्रेष्ठी ने उन्हें पहिचान आश्चर्य से उन्हें भी उनका वृत्तान्त पूछा और क्रमशः सुनकर परम विस्मय को प्राप्त हुआ ॥ ३३ ॥

विदधे च जिनाधीशा मतनेषु समुत्सवम्।
जिनार्चा स्नानपूजाद्यं दीनादीनां विहायि तम् ॥ ३४ ॥

तदनन्तर कुमारादि ने श्री जिनेन्द्र भवन में महोत्सव किया। श्री जिनदेव की पूजा-पञ्चामृताभिषेक, अष्ट प्रकारी पूजादि कर, यतियों को दानादि दिया। दीन अनाथों को भी यथोचित वस्तु प्रदान की। इस प्रकार सुख से ठहरा ॥ ३४ ॥

अथान्येद्युः शुभे लग्ने सुमुहूर्ते शुभे तिथौ।
विवाह मङ्गलं राजा कन्याया स्तेन कारितम् ॥ ३५ ॥

अथानन्तर राजा ने शुभ दिन, शुभ लग्न, शुभ मुहूर्त और शुभ

तिथि में अपनी प्रिय पुत्री-कन्या का विवाह उस कुमार के साथ यथा विधि सम्पन्न किया ।। ३५ ।।

राज्यालंकार पूर्वञ्च दत्वा देशादिकं बहु ।
महा सामन्त मेतं स चकार नर नायकः ।। ३६ ।।

नरेश ने दहेज में अनेकों अलंकार, अनेक देश सामन्त आदि दिये । राज्यालंकार प्रदान कर उन्हें संतुष्ट किया ।। ३६ ।।

इस प्रकार नाना क्रीड़ाओं से प्रजा को आनन्द प्रदान कर वह सुख संतोष से जीवन यापन करने लगा । एक समय उसे अपने पिता-माता के दर्शन का भाव जागृत हुआ । उसने इनके पास प्रथम अपना कुशल समाचार भेजा ।

प्रेषिताश्च कुमारेण पुरुषास्तात सन्निधौ ।
समर्प्य बहु भेदानि द्वीप रत्नादि वेगतः ।। ३७ ।।

एक समय कुमार ने नाना द्वीपों से प्राप्त अनेकों अमूल्य बहुरत्नों के साथ पुरुष भेजा । वह भी वेग गति से उसके पिता के यहाँ पहुँच गया और वे रत्नादि भेट स्वरूप प्रदान किये ।। ३७ ।।

उपलभ्य च तातायास्तद्वृत्तं न मानसे ।
उल्लासेन ममुश्चन्द्र बिम्बादिव पयोधयः ।। ३८ ।।

अपने प्रिय पुत्र का कुशल समाचार एवं वैभव को पाकर माता-पिता आदि कुटुम्बी जनों को परमानन्द हुआ । जिस प्रकार चन्द्रोदय से सागर का जल उत्ताल तरंगों से उछलता है, उमड़ता है उसी प्रकार उनके मन का उल्लास वृद्धिगत हुआ ।। ३८ ।।

प्रेषिताश्च ततो नातुं तस्य तातेन चागताः ।
तेऽपि प्रणम्यतां चाथ मूचुरेवं कृतादरः ।। ३९ ।।

पिता ने भी उन आये हुए सुभटों को तथा अन्य अपने योग्य पुरुषों को पुत्र जिनदत्त को लाने के लिए भेजा । वे सभी वहाँ पहुंचे । कुमार को प्रणाम कर आदर से कहने लगे ।। ३९ ।।

यथा विधीयतां नाथ विलम्बेन विनोद्यमः ।
गमनाय किमत्रेवं स्थीयते स्व जनावृते ।। ४० ।।

हे नाथ ! अब बिना विलम्ब के शीघ्र यहाँ से प्रस्थान करिये। पिता के समीप जाने का उद्यम करना योग्य है। क्योंकि स्वजनों के बिना यहाँ रहना क्या श्रेष्ठ है ? नहीं। सम्पत्ति का भोग स्वजनों के साथ भोगना सज्जन पुरुषों का लक्षण है॥ ४० ॥

तातस्तवाभि नवं चन्द्र समान मूर्ति।
जातो वियोग भरतो भयसोति दुःखात्॥
मातुश्च बाष्प जल विप्लुत कज्जलाङ्का।
गण्डस्थली मलिनतां विजहौ न जातु॥ ४१॥

हे कुमार ! आपके पिता आपके वियोग भार से अत्यन्त दुःखी हैं, उस संताप से उनकी कान्ति क्षीण होकर द्वितीया के मयङ्क समान रह गयी है। आपकी पूज्या मातेश्वरी का हाल बेहाल हो रहा है, वह अहर्निश शोकाश्रु बहाती है। उस प्रवाह से नेत्रों का कज्जल घुलकर उसके कपोलों को कृष्ण बनाये हुए है अर्थात् उसके गण्डस्थल कालिमा को कभी छोड़ते ही नहीं हैं॥ ४१ ॥

अन्योपि बान्धव जनः सकलो वियोग।
दुःखेन दुःस्थ हृदयोन्दुर्दिनं तवास्ते॥
तिष्ठन्ति सांप्रतममी भवदीय वक्त्र।
सन्दर्शनैक रसिका श्च सवेहि शीघ्रं॥ ४२॥

इतना ही नहीं अन्य सभी बन्धु-बांधव आपके विरहानल से दग्ध हो रहे हैं। सभी दुःखित हैं। सबका हृदय आकुलित है और सब हर क्षण आपके मुख चन्द्र के दर्शन को पलक पाँवड़े बिछाये बैठे हैं। अतः अब आप शीघ्र ही आइये। अर्थात् अपने पितृ गृह को प्रस्थान कीजिये॥ ४२ ॥

श्रुत्वेति तस्य वचनं नितरां समुत्कः।
सं प्रच्छ्य भूप वणिगीश पुरः सरं सः॥
लोकं चचाल दयिता सहितो बलेना।
नल्पेन कल्पित मनोहर दिव्य यानः॥ ४३॥

इस प्रकार आगन्तुकों के वचन सुन कर कुमार अपने घर जाने को अधीर हो उठा। वह अत्यन्त उत्सुक हो गया। उसी समय नृपति और

वणिक्‌पति अपने युगल श्वसुरों से जाने की आज्ञा ली। पुनः उन्हें एवं पुरवासियों की भी अनुमोदना ले उनको आगे कर प्रस्थान किया। अपनी पत्नियों, अनल्प विभूति, अमूल्य सम्पत्ति के साथ स्वयं बनाये अनुपम मनोहर यान तैयार किया और आरूढ़ हो वेग से प्रयाण किया ॥ ४३ ॥

प्राप्तस्ततः क्षणतयेव पुरं प्रवृद्धा।
नन्देन बान्धव जनेन समं समेत्य॥
तातेन कल्पित समुत्सव माकुलेन।
स्वांनन्द पूर्ण हृदयेन गृहं स निन्ये॥ ४४ ॥

अल्प क्षणों में ही वह अपने दिव्य विमान से जननी-जन्मभूमि में जा पहुँचा। उस समय पुर की अद्‌भुत शोभा देखते ही बनती थी। चारों ओर आनन्दोत्सव हो रहा था। बन्धु बान्धव आनन्द से उसकी आगवानी को सजधज कर उपस्थित थे। पिता के द्वारा पुत्र के आगमन में किये गये नाना नृत्य-गानादि से व्याकीर्ण था। सभी हर्ष और उल्लास से भरे थे। इस प्रकार महा महोत्सव पूर्वक अपने तातादि पारिवारिक जनों के साथ अभिनन्दित कुमार ने उनके साथ ही अपने घर में प्रवेश किया ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्री भगवद् गुणभद्राचार्यकृत श्री जिनदत्त चरित्र में सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

(अष्टम—सर्ग)

अथासौ सदनं प्राप्य प्रस्तुताखिल मङ्गलम् ।
ननाम मातरं सापि रुदोदाघ्राय मस्तकम् ।। १ ।।

कुमार ने शुभ मङ्गल पूर्वक अपने सदन में प्रवेश किया । उस समय नाना प्रकार सौभाग्यवती नारियों ने शुभ मांगलिक क्रियाएँ सम्पादित की, अर्थात् दूर्वाक्षत, पुष्प आदि क्षेपण किये । निरांजना उतारी आदि । तदनन्तर उस कुमार ने अपनी माँ के चरणों में विनय पूर्वक नम्रीभूत हो प्रणाम किया । उसने भी (माँ ने) उसे रुदन करते हुए हृदय से लगाया और उसका मस्तक चूमा ।। १ ।।

समाश्वास्य ततस्तां स यथा ज्येष्ठं कृतानतिः ।
भद्रासने निविष्ठश्च भवन् भाजन माशिषाम् ।। २ ।।

कुमार ने यथायोग्य अपनी अधीर माँ को आश्वासित किया तथा अन्य सभी ज्येष्ठ–बड़े पुरुष स्त्रियों को नमन किया । तदनन्तर भद्रासन पर आसीन हुआ । उस समय सभी गुरुजनों ने उसे विविध शुभाशीर्वाद प्रदान किये ।। २ ।।

अक्षतानि ददौ तत्र मस्तकेस्य अलीजनः ।
गीत वादित्र नृत्यादि कृतानि च सहस्रशः ।। ३ ।।

सुभाषिनी नारी समूह ने उसके शिर पर अक्षत क्षेपण किये । हजारों प्रकार के गीत, नृत्य, वादित्रादि से महोत्सव किया ।। ३ ।।

श्वश्रु प्रणम्य नारीणा मन्या सा मपिदयोः ।
पपात क्रम द्वयस्य कान्तानां च चतुष्टयम् ।। ४ ।।

चारों पत्नियों ने भी सास-श्वसुर के पादकमलों में नमस्कार किया पुन: अन्य सभी के योग्यतानुसार क्रमश: चरण स्पर्श किया ।। ४ ।।

निविष्टञ्च समासन्न वनिता जन मध्यतः ।
स्वरूप संपदा सर्व भाविता हित विस्मयम् ।। ५ ।।

यथायोग्य विनयोपचार कर वे चारों रमणियों से आवेष्टित हो यथायोग्य आसन पर आसीन हुयीं । उनका रूप लावण्य सबको आश्चर्य

से चकित कर रहा था। अर्थात् सभी की दृष्टि इनके सौन्दर्यपान में लगी हुयी थी। स्वरूप सम्पदा से समीपस्थ नारी जन को महा विस्मय का केन्द्र बन गई ये चारों ॥ ५ ॥

संभावितश्च सर्वेऽपि बान्धवाः स्निग्ध बुद्धयः।
सस्त्रीका स्तन्मुखाम्भोज लीन नेत्रालि मालिकाः ॥ ६ ॥

सर्व बान्धव जन सस्नेह बुद्धि से उसके गुण, बल, पौरुष से नाना प्रकार सम्भावित कल्पनाओं में मुग्ध थे। जिनदत्त को उसकी अनुपम सुन्दर स्त्रियों सहित देख सभी जन उसके मुखपंकज के निहारने में निर्निमेष पलक थे। ऐसा प्रतीत होता था मानों मुख रूपी अरविन्द पर ये नेत्र रूपी भ्रमरों की पंक्तिमाला क्रीड़ा कर रही है—गूंज रही है ॥ ६ ॥

गत्वा ततो जिनेन्द्राणां सर्वेष्वायत नेष्वसे।
भक्तया पूजादिकं कृत्वा चकारोत्सव मादृतः ॥ ७ ॥

सर्व प्रकार लौकिक सत्क्रियाओं के बाद वे सब श्री जिनेन्द्र भगवान के आयतन-मन्दिर में गये। सभी जिनालयों में अत्यन्त भक्ति से पूजन, स्तवन, भक्ति आदि करके महा उत्सव मनाया। जिनभक्ति के अनन्तर गुरु वन्दना को चला ॥ ७ ॥

प्रणनाम गुरूणांश्च पाद पद्मानि भक्तितः।
कृत्य कृत्य मिवात्मानं मेने संभावितश्च तैः ॥ ८ ॥

जिनालयस्थ स्थित श्री वीतराग—मुनिवृन्द के पादपद्मों में भक्ति से नमस्कार किया। उनके साथ धार्मिक संलाप कर अपने को कृतकृत्य माना। ठीक ही है सद्विवेकी जन अपने कर्त्तव्य में सतत जाग्रत रहते हैं। वे धर्म पुरुषार्थ को अग्रकर अन्य क्रियाओं में प्रवर्त होते हैं ॥ ८ ॥

आगत्य च ततो दायि दीनानाथार्थिनां धनम्।
यथा कामं कुमारेण मारेणेव स मूर्त्तिना ॥ ९ ॥

वहाँ से आकर दीन, अनाथ, गरीबों को यथेच्छ दान दिया। कामदेव की मूर्ति स्वरूप कुमार ने समस्त अर्थिजनों को संतुष्ट किया ॥९॥

तथास्य चरितं श्रुत्वा पूजितोऽसौ विशेषतः।
चन्द्र शेखर राजेन जनं रम्येश्च सादरम् ॥ १० ॥

कुमार का चरित्र-शौर्य, धैर्य, वीर्य पराक्रमादि का यश चारों ओर विस्तृत हो गया। नृपति चन्द्रशेखर ने भी विश्रुति सुनी, सुनकर विशेष रूप से उसका आदर सम्मान-सत्कार-पूजा की। अन्य सामन्तादि ने भी यथायोग्य उसका सम्मान किया ॥ १० ॥

इत्थमानन्द मुत्पाद्य तातादीना मुवाच सः।
यथा क्षणं स्ववृत्तान्त मशेषं प्रश्नपूर्वकम् ॥ ११ ॥

इस प्रकार अपने पिता-मातादि परिवार को आनन्द उत्पन्न कराता यथा समय प्रश्नादि पूर्वक अपने वृत्तान्त-पर्यटन की घटनाओं को भी सुनाता ॥ ११ ॥

यान्ति तत्र दिनान्यस्य सुरस्येव सुरालये।
पञ्चेन्द्रिय सुखं सम्यक् भुञ्जानस्य निरन्तरम् ॥ १२ ॥

आमोद-प्रमोद पूर्वक इसका समय स्वर्ग में देवों के समान पञ्चेन्द्रियों के विषय सुखों को भोगने में व्यतीत होने लगा। निरन्तर सुखों में लीन रहने लगा ॥ १२ ॥

उद्यान दीर्घिकाशाल शोभितानि पदे पदे।
अकारयच्च चित्राणि मन्दिराणि जिनेशिनाम् ॥ १३ ॥

उसने रमणीय उद्यान, खातिका, वापिका, कोट आदि पद-पद पर बनवाये। अनेक नाना प्रकार की कलाओं से समन्वित जिनालयों का निर्माण कराया ॥ १३ ॥

सारं श्रावक धर्मस्य विततार यथा विधि।
चतुर्विधस्य संघस्य दानमेव चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

श्रावक धर्म का प्रमुख सारभूत, चतुर्विध संघ को चार प्रकार का दान का विस्तार किया। मुनि, यति, ऋषि और अनगार इन चार प्रकार के निर्ग्रन्थ मुनीश्वरों के समूह को चतुर्विध संघ कहते हैं अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविका को भी चतुर्विध संघ कहते हैं। खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय यह चार प्रकार का आहार है, इसे देना-आहार दान, शास्त्रादि-ज्ञान दान, औषध दान और अभय दान यह चार प्रकार का दान है। दिगम्बर साधुओं को वितरित दान ही दान कहलाता है।

जिनदत्त कुमार सपरिवार-पत्नियां सहित इन दानों को कर अपने गार्हस्थ्य जीवन को सफल करता ॥ १४ ॥

स प्राचनः प्रयाति स्म पर्वणां च चतुष्टये।
इष्टं जनं समादाय वन्दितुं जिन पुङ्गवान् ॥ १५ ॥

अष्टमी और चतुर्दशी आदि चारों पर्वों में अपने इष्ट जनों को लेकर श्रेष्ठ जिनदेव की वन्दनार्थ जाता ॥ १५ ॥

पञ्च कल्याण भू भागान् मेरु कुल शिलोच्चयान्।
एति चानन्य भक्त्या सौ चारणर्षि यतीश्वरान् ॥ १६ ॥

अत्यन्त प्रगाढ़ भक्ति से पञ्च-कल्याणक भूमियों की वन्दना, मेरू, कुल, पर्वत आदि पर जाकर चारण ऋषिश्वरादि की वन्दना करने जाता ॥ १६ ॥

तथातिशय सम्पन्नं दृष्ट्वा जनपदोप्यसौ।
सं बभूव समस्तोऽपि जिनधर्म परायणः ॥ १७ ॥

इसके सातिशय धर्म कार्यों और भक्ति को देखकर समस्त जनपद भी जिनधर्म में परायण हो गये ॥ १७ ॥

गजाश्व रथ धेनूना मन्यासामपि सम्पदाम्।
जाता संख्या गृहेनास्य वीचीनामिव सागरे ॥ १८ ॥

उसके घर में असंख्य रथ, घोड़े, हाथी, गाय आदि सम्पदा हो गयीं। जिस प्रकार सागर में असंख्य लहरें होती हैं उसी प्रकार नाना सम्पदाएँ हो गईं ॥ १८ ॥

ऋतवो पि वसन्ताद्या: सकान्तस्य यथोचितं।
भुञ्जानस्य प्रयान्तस्य सुखं शारीर मानसम् ॥ १९ ॥

अपने प्रियतम के साथ भोग-विलास करने वाली उन कमनियों को वसन्तादि ऋतुएँ भी अनुकूल हो गईं। शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार के सुखानुभव पूर्वक समय व्यतीत होने लगा ॥ १९ ॥

सुव्रत जय वताख्यो विमलादि मतिः सुतौ।
वसन्तलेखया सार्धं सुप्रभं श्रीमती तथा ॥ २० ॥

सुख पूर्वक भोगों में अनुरक्त जिनदत्त की प्रथम पत्नी विमलामती के दो सुकुमार-सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुए। प्रथम का नाम सुदत्त और द्वितीय का जयदत्त नाम घोषित हुआ तथा इन दोनों की "वसन्तलेखा" नाम की रूपवती बहिन भी हुयी। यह श्रीमती के गर्भ से जन्मी थी तथा सुप्रभ नामक पुत्र भी हुआ। अर्थात् द्वितीय पत्नी श्रीमती महादेवी ने एक कन्या और एक कुमार को जन्म दिया ॥ २० ॥

सुकेतुं जयकेतुं च केतुं गरुड़ पूर्वकम् ।
खगाधीश तनूजा च विजयादि मति सुताम् ॥ २१ ॥

तृतीय भार्या से सुकेतु, जयकेतु एवं गरूडकेतु नाम के तीन पुत्र रत्न हुए। यह नारी विद्याधर राजा चक्रवर्ती की पुत्री थी। अतः तदनुसार पराक्रमी पुण्यशाली संतान भी हुयी। इसका नाम विजयामती था। इसे तीन पुत्रों की सवित्री होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ ॥ २१ ॥

सुमित्रं जयमित्रं च वसुमित्रं नृपात्मजा ।
प्राप पुत्रान् तुरीयाऽन्च पुत्रीं नाम्ना प्रभावतीम् ॥ २२ ॥

चतुर्थ पत्नी जो चम्पापुर नरेश की पुत्री थी, ने सुमित्र, जयमित्र और वसुमित्र इन तीन पुत्रों के साथ अनन्द्य सुन्दरी प्रभावती कन्या प्रसव करने का सौभाग्य प्राप्त किया ॥ २२ ॥

कारितश्च समस्तानां जन्म नाम परीक्षणः ।
तथा महोत्सव स्तेन यथा लोकः सुविस्मितः ॥ २३ ॥

जिनदत्त एवं उसके तातादि ने इन सभी का जन्मोत्सव, नामकरण संस्कार आदि क्रियाएँ महा महोत्सव पूर्वक कीं। जिससे समस्त लोक विस्मय में पड़ गये अर्थात् आश्चर्य चकित हुए ॥ २३ ॥

एवं वर्द्धयतस्तस्य त्रिवर्गोद्दाम पादपम् ।
कालः कोऽपि जगामास्य मग्नस्य सुख सागरे ॥ २४ ॥

इस प्रकार उसके त्रिवर्ग–धर्म, अर्थ और काम रूप पादप उद्दाम-वृहद रूप से निर्विघ्न वृद्धिगत हुए। सुख सागर में निमग्न इसका समय कितना किधर जा रहा है यह प्रतीत ही नहीं होता। ठीक ही है भोगों का नशा ऐसा ही होता है किन्तु धर्म ध्यान पूर्वक हो तो यह उन्मत्त नहीं बनाता। जिनदत्त भी सावधान था ॥ २४ ॥

अन्यदा सौ पुरस्कृत्य सर्वर्त्तु कुसुमादिकम् ।
विज्ञप्तो वन पालेन सभामध्य व्यवस्थितः ॥ २५ ॥

एक दिन जिनदत्त राजसभा में उपस्थित था। उसी समय वनपाल आया। षड् ऋतुओं के फल-फूल भेंट कर विज्ञप्ति की ॥ २५ ॥

शृंगार तिलकोद्याने प्रातरद्य समागतः ।
दधत् समाधि गुप्ताख्यां चतुर्ज्ञानी मुनीश्वरः ॥ २६ ॥

हे देव ! शृंगार तिलक नाम के उद्यान में आज प्रातःकाल दीप्तिमान चार ज्ञानधारी मुनिराज पधारे हैं। उनका नाम समाधिगुप्त है ॥ २६ ॥

ऋतुवस्तस्य भक्त्यैव यौगपद्यादुपागताः ।
पुष्पाभरण मप्राहि दृष्ट्वैं च वनश्रिया ॥ २७ ॥

मुनि पुङ्गव के आगमन मात्र से भक्तिभाव से उल्लसित सभी ऋतुओं के फल-फूलों से अनेकों वृक्ष झूम उठे। एक साथ सर्वत्र वन श्री ने पुष्पाभरण धारण कर लिए। मानों साक्षात् लक्ष्मी ही शृंगारित हो उपस्थित हुई हो ॥ २७ ॥

सरस्योप्य भवं स्तत्र विकचांभोज लोचनाः ।
जडाशयोपि को नाम नोल्लासि मुनि दर्शनात् ॥ २८ ॥

हे कुमार ! सरोवरों में नीरज रूपी नेत्र विकसित हो गये। क्या जड़ रूप भी मुनिदर्शन को उल्लसित नहीं होते ? होते ही हैं। अभिप्राय यह है कि वीतराग परम निर्ग्रन्थ मुद्रा को निहारने के लिए मानों सरोवरों ने खिले पंकजों बहाने अनेक नेत्र धारण कर लिए हैं ॥ २८ ॥

गुञ्ज गुञ्जदलि व्रातो भ्राम्यं स्तत्र विराजते ।
निर्गच्छन्निव तद्भीत्या पाप पुञ्जो रुवन् वनात् ॥ २९ ॥

उन विकसित सुमनों पर अनेकों मधुकर गूंज रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानों पापपुञ्ज भयभीत होकर उद्यान से रोता हुआ भाग रहा है ॥ २९ ॥

आश्रित्य सहकाराणां शाखाः प्रव्यग्र मञ्जरीः ।
भव्यां स्तत्राह्वयन्तीव कोकिलाः कल निस्वना ॥ ३० ॥

सहकार वृक्षों की शाखाएँ मञ्जरियों से लद गयीं हैं—आम्र वृक्षों के आश्रय शाखाएँ मञ्जरी-भौंरों से लद कर झूम रही हैं। उन पर कोकिलाएँ कल-कल—मधुर स्वर से कुहुक रही हैं, फुदक रही हैं मानों भव्य प्राणियों को श्री गुरु के सदुपदेश श्रवण करने को आह्वान कर रही है—बुला रही हैं ॥ ३० ॥

तत्रावन्ध्यानो प्याशु फल पुष्प चिता विभो।
वर्त्तते सर्व सामान्यं तादृशानां हि चेष्टितम् ॥ ३१ ॥

हे विभो ! उस उद्यान में अवकेशी—वन्ध्या लता भी फल-पुष्पों से युक्त हो गई हैं। शीघ्र ही सर्व वनस्पतियाँ उसी प्रकार चेष्टाएँ धारण कर सुशोभित हो रही हैं। सर्वत्र हरा-भरा साम्राज्य हो गया है ॥ ३१ ॥

मन्द गन्ध वहोद्भूता नृत्यन्ति कुसुमाञ्जलिम्।
प्रक्षोप्येव लतास्तत्र सदानन्देङ्ग नो चिताम् ॥ ३२ ॥

मन्द-मन्द पवन के झकोरों से कुसुमाञ्जलि लिए डालियाँ झूम-झूम कर नृत्य कर रहीं हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानों आनन्द से लताएँ कुसुम अवकीर्ण कर आंगन में मङ्गल चौक-स्वास्तिकादि पूर रही हैं॥३२॥

वाति प्रभञ्जन स्तत्र मानमी मान भञ्जनः।
तादृशस्य प्रभोः सङ्गे तथा किं नोपजायते ॥ ३३ ॥

हे नाथ ! माननियों का मान भञ्जन करने वाली वायु बह रही है। इस प्रकार के परम तपस्वी श्री मुनि पुङ्गव के सान्निध्य से भला उसका इस रूप में बहना उचित नहीं क्या ? उचित ही है। अर्थात् निष्कषाय-वीतरागी प्रभो—गुरु का सम्पर्क प्राप्त कर पवन भी मान कषाय संहारक क्यों न होती ? हो ही गई ॥ ३३ ॥

आसते यतय स्तत्र विविधर्द्धि विराजिताः।
धर्माः समूर्त्तयो मन्ये भव्य पुण्याय ते तथा ॥ ३४ ॥

वहाँ अनेकों ऋद्धिधारी ऋषिराज विराज रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानों धर्म साक्षात् मूर्तिमान रूप धारण कर आ उपस्थित हुआ है। मानों वे भव्य जीवों के पुण्य के लिए ही इस प्रकार यहाँ पधारे हैं। अर्थात् भव्य प्राणियों के उज्ज्वल पुण्य समूह ने उन्हें यहाँ आकर्षित किया है ॥ ३४ ॥

अपायुस्तत् क्षणादेव सर्वं पापानि पश्यताम् ।
सत्काः संयमिनः शश्वत् स्वाध्याय ध्यान कर्मणि ।। ३५ ।।

निरन्तर ध्यान स्वाध्याय में संलग्न उन संयमियों के दर्शन मात्र से तत्क्षणपाप समूह नष्ट हो जाता है । अर्थात् सर्व पापों की स्थिति उनके दर्शन से क्षीण हो जाती है, अपकृष्ट हो जाती है ।। ३५ ।।

निशम्य तं प्रदायास्मै प्रसादं मुदितस्ततः ।
ननाम तां दिशं गत्वा भक्त्या सप्त पदानि सः ।। ३६ ।।

आगत वनपाल के द्वारा इस प्रकार श्री आचार्य देव के ससंघ आगमन एवं प्रभाव को सुनकर उसने (जिनदत्त ने) प्रमुदित हो महा प्रगाढ़ भक्ति से उस दिशा में सात पैंड गमन किया । कराञ्जुलि मस्तक पर धारण की । पुनः यथाविधि गवासन से नमस्कार किया ।। ३६ ।।

एकान्तो मिलिता शेष बन्धु लोक परिच्छदः ।
तत्कालोचित् यानेन वन्दनार्थं चचाल सः ।। ३७ ।।

तत्क्षण एक स्थान पर सभी अपने बन्धु-बान्धव परिजनों को समन्वित किया । यथा योग्य वाहन पर सवार हो गुरु वन्दनार्थं प्रस्थान किया ।। ३७ ।।

उत्तीर्य दूरतो याना द्विवेशासौ भवनान्तरम् ।
कूजद्विहंगमाराव विहित स्वागत क्रियम् ।। ३८ ।।

दूर से ही उद्यान दृष्टिगत हुआ । उसी समय सवारी से नीचे उतरा । पैदल चलने लगा । लघु समय में ही उद्यान में प्रवेश किया । उस समय पक्षीगण मनोरम स्वर में कूज रहे थे । मानों उसका स्वागत गान ही गा रहे हों ? उनसे सम्मानित कुमार ने उद्यान में प्रवेश किया ।। ३८ ।।

प्रदेशं स ततः प्राप यत्रास्ते यति नायकः ।
आसीनो शोक वृक्षस्य मूलेऽमल शिला तले ।। ३९ ।।

तत्पश्चात् शीघ्र ही वह उस प्रदेश में पहुँचा, जहाँ श्री मुनिराज-यतिनायक अशोक वृक्ष के नीचे स्वच्छ-निर्मल प्राशुक शिलातल पर विराजमान थे ।। ३९ ।।

त्रिपरीत्य ततः स्तुत्वा तमन्यांश्च यतीश्वरान् ।
विनीतात्मा यथा स्थानं निविष्टोऽसौ कृताञ्जलिः ॥ ४० ॥

कर युगल जोड़कर जिनदत्त ने तीन प्रदक्षिणा दीं। यति शिरोमणि गणनायक आचार्य परमेष्ठी को प्रथम नमस्कार किया, पुनः शेष यति रत्नोंको क्रमशः नमस्कार कर यथोचित स्थान पर बैठ गया। विनीतात्मा उस समय भी हस्त युगल जोड़ विनय से बैठा ॥ ४० ॥

पुण्याङ्कुरै रिवा शेषां कुर्वन् विच्छुरितां सभाम् ।
धर्म वृद्धि बभाणासौ यतीशो दशनांशुभिः ॥ ४१ ॥

पुण्याङ्कुरों से समस्त सभा को अभिसिंचित करते हुए, अपनी दन्त पंक्तियों से प्रस्फुरायमान किरणों से "धर्मवृद्धि हो" इस प्रकार यतिनायक गुरुदेव ने आशीर्वाद दिया ॥ ४१ ॥

ततो वावीवयं भक्ति नम्र मूर्त्ति मुनीश्वरम् ।
मादृशां मुग्ध बुद्धीनां दुर्लभं तव दर्शनम् ॥ ४२ ॥

आशीर्वाद प्राप्त, हर्ष एवं भक्ति से नम्रीभूत यह जिनदत्त बोला, हे प्रभो मेरे जैसे मुग्ध-मन्द बुद्धि जनों को आपका दर्शन अति दुर्लभ है ॥४२॥

तावदेव जगन्नाथ मोहान्ध तमसावृतम् ।
विचरन्ति न ते यावत् भानोरिव वचोंशवः ॥ ४३ ॥

तो भी हे जगत के नायक ! जीव तब तक ही मोह रूपी अंधकार से व्याप्त हैं जब तक कि आपके वचन रूपी सूर्य की किरणें उन्हें प्राप्त नहीं होतीं। अर्थात् आपका धर्मोपदेशामृत हम जैसे मोही प्राणियों के मोहान्धकार को नष्ट कर सम्यग्दर्शन प्रदान करने वाला है ॥ ४३ ॥

भवान्ध कूप संपाति विश्वमाशु भवत्ययः ।
भवादृशा न चेत् सन्ति रत्न दीपास्तमश्छिदः ॥ ४४ ॥

हे प्रभो ! आप समान–तमश्छेदक रत्न दीपक के समान यदि न हों तो यह सारा संसार शीघ्र ही संसार रूपी अंधकूप में जा गिरे। अतएव आप रत्न दीप हैं। भव्य जीवों को पथ प्रदर्शन कर कुमार्ग–मिथ्यामार्ग से बचा कर सन्मार्ग–मोक्षमार्ग प्रदर्शित करते हैं ॥ ४४ ॥

विषयाशा हुता शेन दह्यमाने जगद्वने ।
उदमूर्भव्य पुण्येन सुधा मेघो भवानिह ॥ ४५ ॥

यह सारा संसार विषयों की आशा रूपी अग्नि में धांय-धांय जल रहा है । उसे शमन करने में आप मेघ समान हैं । भव्य जीवों के पुण्य से ही आप अमृत मेघ वर्षण करने संसार में उदित हुए हैं ॥ ४५ ॥

त्वत्पाद पद्म सङ्गेऽपि यस्तत्त्वं नावबुध्यते ।
मन्द भाग्य: समुद्रेऽपि शंखकानां सभाजनम् ॥ ४६ ॥

आपके चरण कमलों में आकर भी यदि कोई तत्त्व का अवबोध नहीं करता है तो वह रत्नों से भरे सागर में जाकर भी मन्द भागी सीप, शंख को ही इकट्ठा करने वाला है । अर्थात् आपके धर्मामृत का पान करके भी यदि आपसे स्व तत्त्व परिज्ञान नहीं करता तो वह मूर्ख है । मन्द भागी है । रत्नाकर से शंख संचय करने वाले के समान अज्ञानी है ॥ ४६ ॥

सूर्य चन्द्र मसौ यत्र कर प्रसर वर्जितौ ।
ज्ञानाख्यं तव तत्रापि चक्षु: प्रतिहतं न हि ॥ ४७ ॥

जिस स्थान में रवि एवं चन्द्र की तीक्ष्ण, शान्त किरणों का प्रकाश नहीं पहुँच सकता वहाँ भी आपके ज्ञान चक्षु की रश्मियाँ अप्रतिहत गति से पहुँच जाती हैं । अर्थात् आप अपने निर्मल ज्ञान सूर्य द्वारा भव्यों के हृदय में स्थित अन्धकार को भी प्रकाशित कर निकाल भगाते हैं ॥ ४७ ॥

अत: प्रसादतो नाथ भवतां भव भेदिनाम् ।
शुश्रूषति मन: किञ्चिज्जन्मान्तर गतं मम ॥ ४८ ॥

अत: हे भवभेदि ! स्वामिन् आपके प्रसाद से मैं अपने पूर्व भव सुनना चाहता हूँ । मेरे मन को कृपा कर जन्मान्तर का वर्णन कर संतोष प्रदान करिये ॥ ४८ ॥

कर्मणा केन योगीन्द्र प्राप्तं सौख्यं परं तत: ।
परं परा मनर्थानां ततश्च सकला: श्रिय: ॥ ४९ ॥

हे गुरुवर्य ! यद्यपि परम्परा से अर्थ अनर्थों का मूल है किन्तु मुझे किस कर्म के उदय से यह समस्त सुखों का साधन रूप सम्पदा प्राप्त हुयी है । हे योगीन्द्र ! समस्त श्री-लक्ष्मी प्राप्ति का हेतु क्या है ? ॥ ४९ ॥

संयोगश्च अगद्द्न्द्य कथमासां चतसृणाम् ।
अत्यन्त दूर जातानां नाधिकानां ममा भवत् ॥ ५० ॥

हे देव ! इन चारों अप्रतिम सुन्दरियों का संयोग किस कारण से मिला है। यद्यपि ये अत्यन्त दूर देश में उत्पन्न हुयी हैं फिर भी मुझे वह दूरी अधिक नहीं हुयी। स्वयं मैं वहाँ पहुँच गया और अनायास ही संयोग हो गया। इसका क्या कारण है ? ॥ ५० ॥

निशम्येति वचस्तस्य प्रोवाच यति सत्तमः ।
सावधानो महाभव्य वर्ण्यमानं मया शृणु ॥ ५१ ॥

इस प्रकार जिनदत्त द्वारा अपने भवान्तर पूछे जाने पर वे मुनि श्रमणोत्तम आचार्य शिरोमणी इस प्रकार बोले, हे भद्र ! यदि तुम्हें सुनना है तो सावधान हो जाओ। मैं जो वर्णन करूँ उसे एकाग्र होकर सुनो ॥ ५१ ॥

सुखाभासा हि रामाणि दु खान्येव हि भुक्तता ।
कर्मजाल निरुद्धानां यानि शर्माणि देहिनाम् ॥ ५२ ॥

यह जीव इन्द्रिय जन्य सुखों को सुख मानता है किन्तु वे सुखाभास हैं। निश्चय से वे दुःख ही हैं। कर्मजाल में बद्ध प्राणियों के जो कुछ भी सुख-दुःख हैं वे सब दुःख रूप ही है। वे क्षण भर को सुख जैसे प्रतीत होते हैं परन्तु विपाक में दुःख कारक ही हैं ॥ ५२ ॥

अनादि कालतोऽनादि संसारे परिवर्तनाम् ।
जानात्येव जिनस्तानि संख्यातु न पुनः क्षमः ॥ ५३ ॥

इस परिवर्तन शील अनादि संसार में अनादि काल से जीव ने कितने दुःख भोगे हैं उन्हें सर्वज्ञ जिन ही जान सकते हैं। हे भाई ! जिनदेव भी केवल जानते हैं उनकी संख्या नहीं गिना सकते। क्योंकि शब्द शक्तियाँ ही नहीं है। अतः संसार दुःखों का निःशेष वर्णन करने में भगवान भी सक्षम नहीं है ॥ ५३ ॥

अतोऽनन्तर मेवाहं भवं तव वदाम्यहो ।
यत्तवेव चिराद् भद्र भावतो हित संभवः ॥ ५४ ॥

अतः इसके पूर्व भव को ही मैं कहता हूँ, हे भद्र ! उससे ही तुम्हारा शीघ्र हित सम्भव है ॥ ५४ ॥

हे महाभाग सुनो—

अस्त्यत्र भरत क्षेत्रे देशोऽवन्तिः स्वशोभया।
सस्पृहा मर्त्य लोकस्य कृता येन सुरा अपि ॥ ५५ ॥

जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र नाम का रमणीय क्षेत्र है। इसमें अवन्ति नाम का अतिशय मनोहर देश है। इस देश ने अपनी शोभा से सुरों को भी लालायित कर दिया। मृत्युलोक में रहते हुए भी देवों को स्पर्धा करने वाली इसकी श्री थी ॥ ५५ ॥

पतन्ति यत्र शालीनां केदारेषु मधु वृताः।
मलिनोभय पक्षा हि केदारेषु पराङ्मुखाः ॥ ५६ ॥

इस देश में शालि-धान के पके खेतों की क्यारियों में मधु भ्रमर समूह गिरते हैं। उभय पक्ष को मलिन करने वाली परदारा का सेवन करने से शालीन पुरुष सतत पराङ्मुख रहते हैं। अर्थात् सभी सदाचारी हैं। शील संयम के पालक हैं ॥ ५६ ॥

चक्राङ्किता विराजन्ते राज हंस निषेविताः।
मार्गेषु यत्र पद्माढ्या चक्रिणो वा जलाशयाः ॥ ५७ ॥

यहाँ के मार्गों में यत्र, तत्र-सर्वत्र रमणीय मधुर जल प्रपूरित सरोवर हैं। वे राज हंसों से सेवित हैं। चक्रवाल पक्षियों द्वारा गूँजित हैं। सुन्दर सुविकसित कमलों से परिपूर्ण हैं। इस प्रकार सरोवरों की अनूठी शोभा है ॥ ५७ ॥

सरसा सदलङ्कारा व्यक्त वर्ण व्यवस्थितिः।
प्रसादी ओजयुता यत्र कथेव जनता कवेः ॥ ५८ ॥

सर्वोत्तम कवि की कविता, जिसमें सरसता, सुन्दर अलंकार छटा, स्पष्ट सरल शब्द संयोजना, प्रसाद और ओज गुण युक्त होती है, उन्हीं कवियों की कथा के समान यहाँ की जनता थी। अर्थात् श्रेष्ठतम कवियों द्वारा यहाँ की जनता का वर्णन किया जाता था ॥ ५८ ॥

तत्रास्त्युज्जयिनी नाम नगरी नर सत्तमः।
यथेषं राजते हार लतयेव वराङ्गना ॥ ५९ ॥

हे नरोत्तम ! इस देश में उज्जयिनी नाम की सुन्दर नगरी है। यह सुन्दर रमणी के अनोखे हार की भाँति शोभित होती है ॥ ५९ ॥

प्राकार शिखरा नद्ध पद्म रागांशुभि निशि।
पतितैः खातिका नीरे रथा ङ्गा विरह व्यथाम् ।। ६० ।।

यहाँ के उच्च प्राकार हैं, गगन-चुम्बी शिखर हैं, उन शिखरों में पद्मराग मणियाँ खचित हैं। रात्रि समय में इन मणियों की प्रभा से रञ्जित खाइयों का जल अरूण हो जाता है। वह ऐसा प्रतीत होता है मानों विरहनी अंगनाओं की विरह व्यथा ही बिखर रही है ।। ६० ।।

यत्र मुक्तयंव जायन्ते सङ्गमाभिमुखा मुदा।
उदयं दिननाथस्य मन्यमाना शुचाभितः ।। ६१ ।।

प्रसन्नता पूर्वक संगम की अभिलाषिनियां प्रसन्न वदना सूर्योदय की भ्रान्ति से चारों ओर से मुक्त हो जातीं अर्थात् रात्रि में भी चारों ओर प्रकाश रहता जिससे रवि उदय हो गया यह भ्रम हो जाता और प्रेमियों का संयोग मुक्त हो जाता ।। ६१ ।।

यत्र प्रासाद संलग्न नीलांशु शबलः शशी।
मुदेस्वच्छन्द नारीणां जायते निशि सर्वदा ।। ६२ ।।

यहाँ के प्रासादों में नीलमणियाँ लगी हैं इनकी आभा से हमेशा रात्रि में चन्द्र ज्योत्स्ना सबलित हो जाती अर्थात् चाँदनी सफेद होने पर भी नीलमणियों के प्रकाश में मिलकर धुंधली हो जाती। फलतः स्वच्छन्द नारियों को यह विशेष आनन्द दायक हो जाती। क्योंकि उन्हें आने-जाने में बाधा नहीं होती ।। ६२ ।।

(यह उज्जयिनी नगरी पृथ्वी की सारभूत सकल सम्पदाओं की जननी स्वरूपा है। यह पुण्यशाली महापुरुषों का पालन करने वाली धाय है। अर्थात् यहाँ महान् पुण्यशाली, धर्मात्मा जीव ही उत्पन्न होते हैं।)

समग्र वसुधा सार संपदां जन्म भूमिका।
आवासा यत्रता धात्रा या नृणां पुण्य शालिनाम् ।। ६३ ।।

समस्त भूमि की सारभूत सम्पदा की यह जन्म भूमि थी। यह समस्त पुण्यशाली मनुष्यों का पालन करने वाली धाय के समान थी। उन्हें आश्रय-आवास प्रदान करने वाली थी ।। ६३ ।।

तत्र विक्रम धर्माख्यो भूपो भूद भुवनान्तरम् ।
जगःहे लीलया यस्य यश: पूर्णेन्दु सुन्दरम् ।। ६४ ।।

वहाँ धर्मविक्रम नाम का राजा हुआ। पूर्णिमा के पूर्ण चाँद के समान इसका यश लीला मात्र में समस्त भुवन में व्याप्त हो गया ।। ६४ ।।

शोभायै केवलं यस्य चातुरङ्गम मूद्बलम् ।
प्रतापे नैव यत्सेवां कारिता: सकलारय: ।। ६५ ।।

अपने चतुरंग बल से यह शोभित हुआ। इसके प्रताप से समस्त शत्रु सेवा भाव को प्राप्त हो गये। अर्थात् सभी शत्रु राजा भी स्वयं सेवक हो गये ।। ६५ ।।

पद्मश्री रभवत्तस्य पद्मेव मधु विद्विष: ।
प्रिया प्रकर्षमापन्ना रूपादि गुण गोचरम् ।। ६६ ।।

इस राजा की पद्म के समान कान्ति रूप युक्त पद्मश्री नाम की महारानी थी। जो अत्यन्त विदुषी गुणज्ञ भी थी। अपने रूपादि से नृपति को विशेष आकर्षित करने वाली थी ।। ६६ ।।

अथासीद्धन देवाख्य: श्रीमानत्रैव वाणिज: ।
समुद्र इव नीराणां गुणाणामधि वासभू: ।। ६७ ।।

इसी उज्जयिनी नगरी में एक धनदेव नाम का वणिक् था। यह समुद्र के समान गम्भीर और अनेक गुणों का स्थान था। जिस प्रकार सागर में अनेकों रत्नों का पुञ्ज रहता है उसी प्रकार यह वणिक् भी गुण रूपी रत्नों का रत्नाकर स्वरूप था ।। ६७ ।।

यशोमतिरिति ख्याता कुल शील समुज्वला ।
बभूव वल्लभा तस्य कुशला गृह कर्मणि ।। ६८ ।।

कुल शील से समुज्जवल यशोमती नाम की इस सेठ की प्रिया थी। यह गृह कार्य में अत्यन्त निपुण थी ।। ६८ ।।

यथाकालं तया सार्द्धं भुञ्जानस्य निरन्तरम् ।
सुखं सूतायिनो जातो भवानस्य तनूरुह: ।। ६९ ।।

उस योग्य प्रिया के साथ यथायोग्य यथाकाल सुखानुभव करते हुए

उसका काल आनन्द से व्यतीत हो रहा था। उसीके गर्भ से तुम (जिनदत्त) पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ६९ ॥

यथा कामं ततस्तातो बन्धु लोक समन्वितः।
चकार शिव देवाख्यां भवतो भव्य बान्धव ॥ ७० ॥

तुम्हारे पिता ने यथोचित पुत्रोत्पत्ति महोत्सव मनाया। बन्धु-बान्धवों ने समन्वित हो विधिवत तुम्हारा नाम करण संस्कार किया और "शिवदेव" नाम घोषित किया ॥ ७० ॥

पूर्व पापोदया तत्र वर्द्धसे त्वं यथा यथा।
क्षीयते यः कुटुम्बेन सार्द्ध गेहे तथा तथा ॥ ७१ ॥

पूर्व पाप कर्म के उदय से तुम जैसे-जैसे वृद्धिगत हुए वैसे-वैसे कुटुम्ब के साथ-साथ धन की भी हानि होती गई। अर्थात् घर में धन-जन दोनों ही क्षय होते गये ॥ ७१ ॥

अपरेद्युः पतित्वाशु व्योमतो विद्युता वृजन्।
हट्ट मार्गे हतस्तातो यथा भूद्भस्मसात्तथा ॥ ७२ ॥

किसी एक दिन तुम्हारे पिता व्यापारार्थ बाजार में गये। अचानक उसी समय आकाश से बिजली गिरी और तुम्हारे पिता वहीं उसके आघात से भस्मसात् हो गये। अर्थात् मार्ग में ही अकस्मात् विद्युतपात से मृत्यु को प्राप्त हुए ॥ ७२ ॥

ततो शोकाकुलेनास्य बन्धुलोकेन निर्मितम्।
मृतकर्म रुरोदारं माता च करुणं तव ॥ ७३ ॥

उस समय सभी बन्धुओं ने अत्यन्त शोकाकुलित हो उसका मृत्यु संस्कार किया। उस समय तुम्हारी माता अत्यन्त करुणा जनक रुदन करने लगी ॥ ७३ ॥

हानाथ स्वंगतस्त्यक्त्वा बालं बालेन्दु सुन्दरम्।
कथमेषा भविष्यामि हताशा भवतोज्झिता ॥ ७४ ॥

हाय ! नाथ ! तुम इस बालेन्दु–पुत्र को छोड़कर कहाँ गये ? इस सुन्दर सुकुमार बालक का क्या होगा ? मैं आपके द्वारा छोड़ी गई अब आशा विहीन हो जाऊँगी ? ॥ ७४ ॥

गतं क्षयं क्षणात् कान्त भवतैव समं धनम् ।
वित्तं विनाधिपेनेव कथं पुत्रो भविष्यति ।। ७५ ।।

हे नाथ ! आपके साथ-साथ ही धन भी नष्ट हो गया । यह सूर्य के समान दिन-दिन पुत्र किस प्रकार पलेगा । अर्थात् इसका कौन सहायी होगा ? ।। ७५ ।।

इत्यादिकं विलप्यासौ संलग्ना गृह कर्मणि ।
ववृद्धे च भवां स्तत्र दीन मूर्तिः सुदुः खितः ।। ७६ ।।

इस प्रकार विलाप कर कुछ धैर्य से गृह कार्यों में संलग्न हुयी । बड़े दुःख से किसी न किसी प्रकार तुम्हारा पालन-पोषण करने लगी और तुम भी दीन मूर्ति के समान दुःख से बढ़ने लगे ।। ७६ ।।

तमालोक्य जनः सर्वे ब्रूवीतीति तथा सुतः ।
समस्ता तेन नो जातु रविणेव शनैश्चरः ।। ७७ ।।

तथा पुत्र को इस प्रकार दीन-हीन देखकर लोग कहते, यह कहाँ से ऐसा हुआ है, क्या कभी रवि से शनिश्चर होता है । अर्थात् सूर्य समान पिता से यह शनिश्चर हो गया है ।। ७७ ।।

क्रमाच्च यौवनं प्राप्तः कृत दार परिग्रहः ।
ग्रामान्तरे प्रयात्येव वणिज्यार्थं दिने दिने ।। ७८ ।।

इस प्रकार क्रमशः उसने यौवन पद प्राप्त किया और विवाह भी हो गया । आजीविका के लिए प्रतिदिन ग्रामान्तर को जाने लगा । वाणिज्य के लिए जाना ही पड़ता ।। ७८ ।।

ततः किञ्चित् समानीय कुरुते स दिन त्रयम् ।
स प्रातश्चलितोऽन्येद्यु र्लात्वा परिकरं निजम् ।। ७९ ।।

अतः अपने परिवार को कुछ लाकर देता । उससे तीन दिन काम चलता । किसी एक दिन वह अपने परिवार को लेकर प्रातःकाल ही वाणिज्य करने निकला ।। ७९ ।।

अन्तरेत्र ततस्तेन मूले अश्वत्थ महीरुहः ।
त्रिकाल योग सम्पन्नः सर्व सत्त्व हितोद्यतः ।। ८० ।।

कि
ी

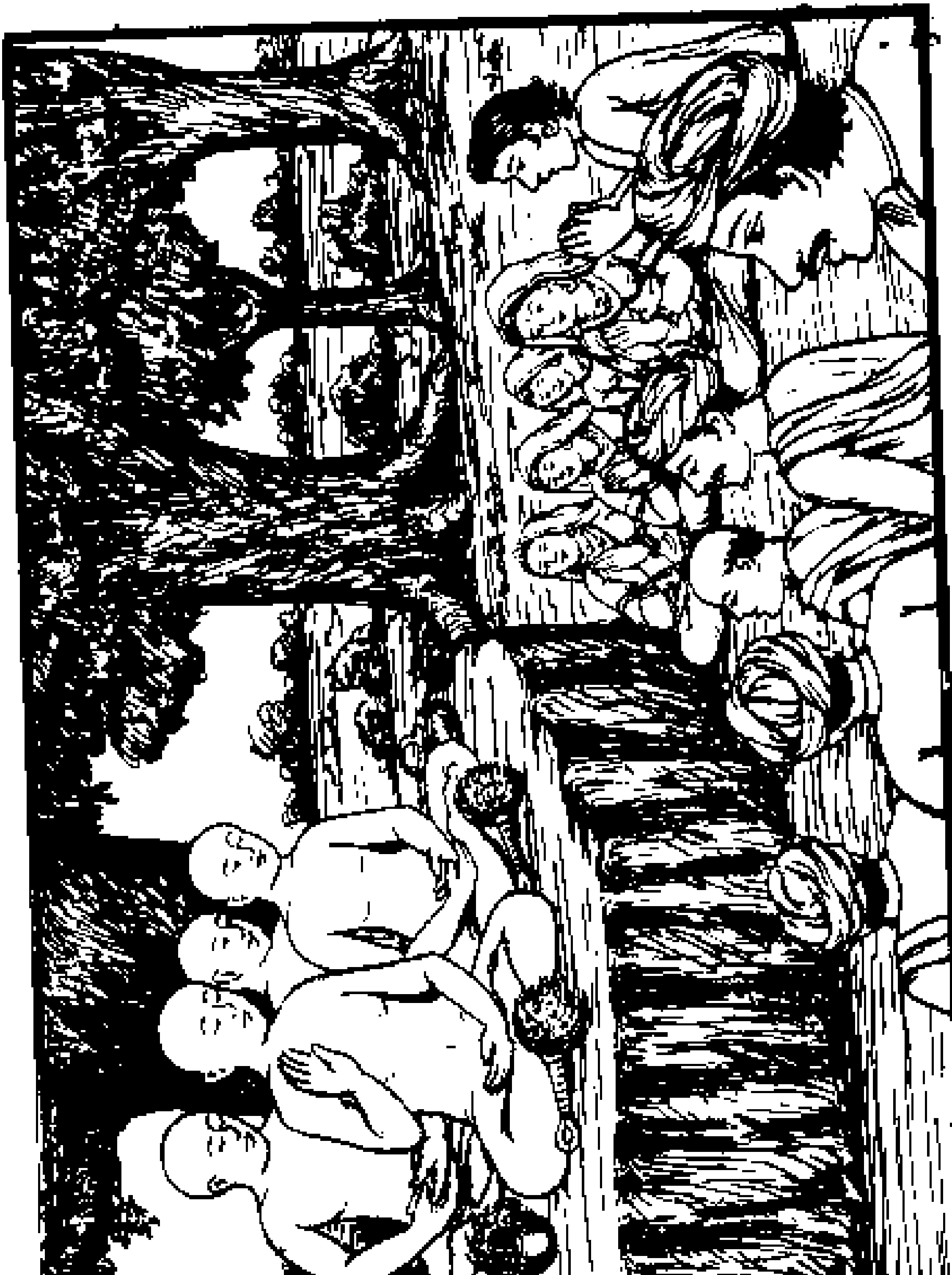

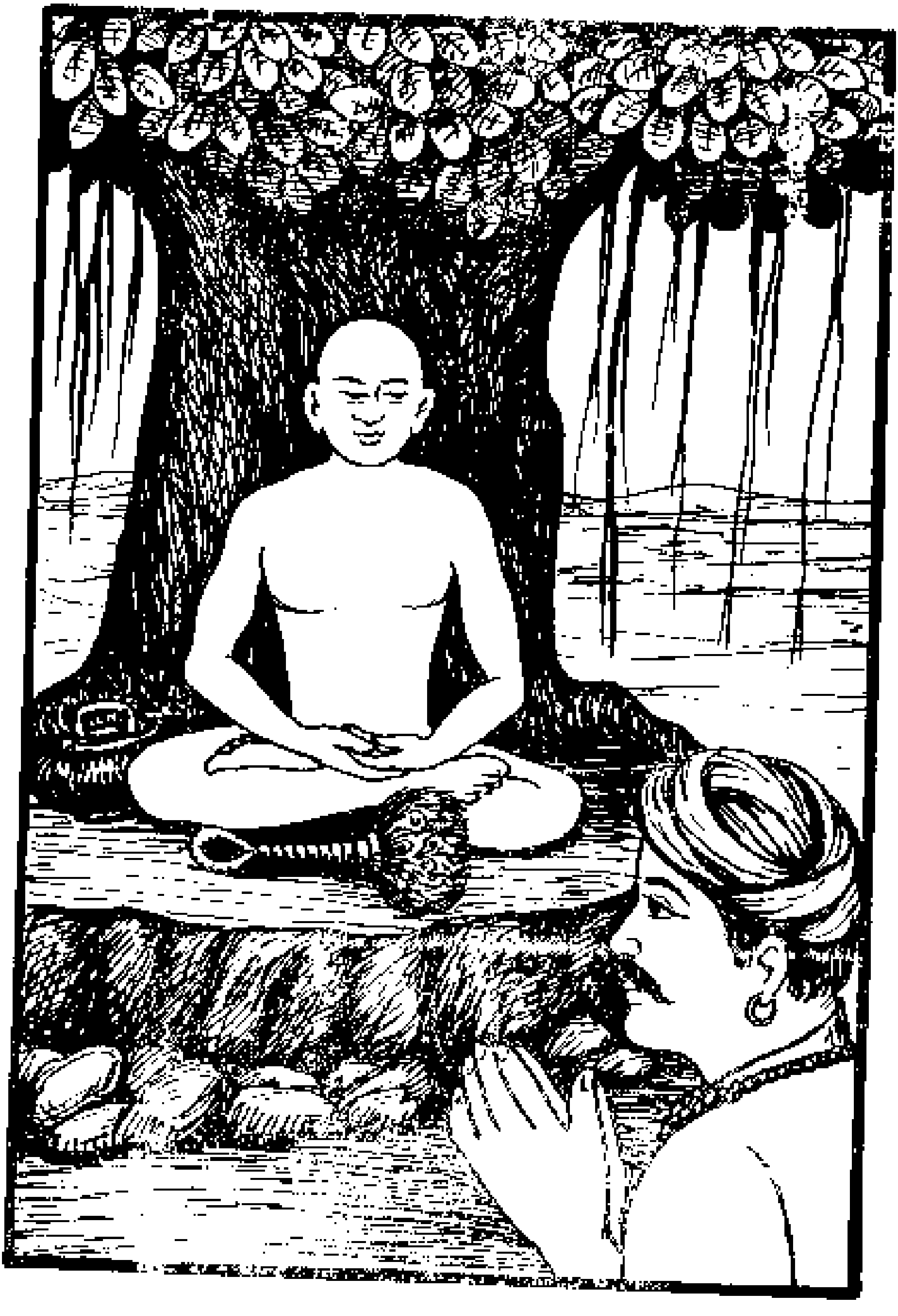

वट वृक्ष के नीचे ध्यान मग्न योगिराज के दर्शन करते हुए सेठ पुत्र (जिनदत्त पूर्वभव)

वह मार्ग में जा रहा था। एक विशाल वटवृक्ष के नीचे पहुँचा। वहाँ पर एक योगिराज विराजमान थे। वे त्रिकाल योग से सम्पन्न थे अर्थात् ग्रीष्मावकाश योग, वर्षा योग और शीत योग धारण करने वाले थे। गरमी में भीषण धूप में विशाल उन्नत पर्वत की चोटियों पर ध्यान करते, वर्षाकाल में वृक्षों के नीचे आत्म-चिन्तन करते और शरदकाल में चौराहे या खुले आकाश में धैर्य रूप कम्बल धारण कर आत्म-साधना करने वाले थे। समस्त जीवों के हित में सतत उद्यत थे ॥ ८० ॥

महारामाधिवासोऽपि निः कामो मान वर्जितः।
भाजन सर्व मानानां स द्वेषो द्वेष शून्यधीः ॥ ८१ ॥

वे अपनी आत्म रूपी वाटिका में निवास करते, निष्काम, मान रहित, सबके द्वारा माननीय–सम्मान भाजन, द्वेष विहीन अर्थात् द्वेष बुद्धि से शून्य थे ॥ ८१ ॥

उद्यतो बन्ध विध्वंसे गुप्ति त्रितय संयुतः।
नितान्तं शान्त रूपोपि सदा समिति भासुरः ॥ ८२ ॥

जटिल कर्म बन्ध के विध्वंस करने में उद्यत, तीन गुप्तियों के धारक नितान्त शान्त स्वरूप, एवं निरन्तर सदैव पञ्च-समितियों से शोभायमान, तेज पुञ्ज थे ॥ ८२ ॥

मुरजादि विधि व्रात कृशतायात विग्रहः।
पञ्चेन्द्रिय मनोदुष्ट सम्यग् विहित निग्रहः ॥ ८३ ॥
मासोपवास मास्थाय निरुद्ध सकलेन्द्रियः।
पर्यङ्कासन संस्थानो ध्यायत् सहज मात्मनः ॥ ८४ ॥

मुरज, कनकावली, रत्नावली, सिंह निष्क्रिडित, मुरजावली आदि उपवासों से उनका शरीर अत्यन्त कृश क्षीण हो गया था। पाँचों इन्द्रियों और दुष्ट मन को सम्यक् प्रकार वश कर लिया था। समस्त इन्द्रियों का निरोध कर निश्चल वे एक मास का उपवास लेकर पर्यङ्कासन से स्थित सहज-शुद्ध आत्मा का ध्यान करते हुए विराजे थे ॥ ८३–८४ ॥

दृष्टोऽमुष्ट समस्तार्थो मुनीन्द्रो विमलाभिधः।
प्रणनाम ततस्तस्य पादौ मुदित मानसः ॥ ८५ ॥

दुष्ट-शिष्ट अर्थात् शुभाशुभ–हेयोपादेय समस्त तत्त्वों के ज्ञाता वे मुनीन्द्र अपने स्वभाव में लीन थे। उनका शुभ नाम श्री विमल मुनीन्द्र था। उन्हें देखते ही जिनदेव प्रति भक्ति एवं आनन्द चित्त से उनके चरणों में पड़ा। अर्थात् नमस्कार किया ॥ ८५ ॥

अचिन्तयच्च संसारे द्वावेव सुखिना जनौ।
पखातपत्र माधत्ते यस्य यच्च जितेन्द्रियः ॥ ८६ ॥

वह चिन्तवन करने लगा, अहो ! संसार में दो ही सुखी हैं। एक तो षट्खण्डधारी चक्री और दूसरे ये जितेन्द्रिय मुनीश्वर ॥ ८६ ॥

चक्रिणोऽपि न तत् सौख्यं यदेतस्य तपस्यतः।
राग रोष वशश्चक्री यतिस्ताभ्यां विवर्जितः ॥ ८७ ॥

तो भी उनमें चक्रवर्ती भी उस सुख को प्राप्त नहीं कर सकता जिस आत्मानन्द का अनुभव इन्हें इस तप से प्राप्त हो रहा है। क्योंकि चक्रवर्ती राग-द्वेष के वशवर्ती है और ये उनसे (राग-द्वेष से) सर्वथा रहित हैं। वीतरागी, समदर्शी हैं ॥ ८७ ॥

चिन्तयित्वेति स नत्वा भूयो भूयोऽपि भक्तितः।
स जगाम यथा भीष्टं करोत्येवं च नित्यशः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार बार-बार चिन्तवन कर उसने पुनः पुनः उन गुरुदेव के चरणों में विशेष अनुराग एवं भक्ति से नमस्कार किया पुनः अपने अभीष्ट स्थान को (वणिक) चला गया। इस प्रकार वह प्रतिदिन वहाँ आकर उन ऋषिराज मुनिपुङ्गव के दर्शन करने लगा ॥ ८८ ॥

आतेऽन्यदा यतेस्तस्य पारणा दिवसे सति।
चिन्तितं मानसे तेन तद्गुण ग्राम वासिना ॥ ८९ ॥

शनैः शनैः एक मास पूर्ण हुआ। पारणा का दिन आया। वह उन मुनीश्वर के गुण समूह में निवास करने वाला वणिक् विचार करता है मन में ॥ ८९ ॥

कस्याद्य मन्दिरं पाद पांसुभिः पुण्य भागिनः।
करिष्यत्यद्य कल्याण भाजनं यति नायकः ॥ ९० ॥

आज किस भाग्यशाली पुण्यवान का घर इन श्री मुनि की चरण धूलि से पवित्र होगा। ये कल्याण स्वरूप यतिनाथ किस पर कृपा करेंगे, किसे अपनी चरण रज से कल्याण का पात्र बनाएँगे ।। ९० ।।

उत्तमोत्तम भोगानां भाजनं जायतां जनः ।
कथं न तत्र यत्रामी विशन्ते पात्र सत्तमाः ।। ९१ ।।

जिसके यहाँ इस प्रकार के उत्तम पात्र आते हैं वह मनुष्य उत्तमोत्तम भोगों का पात्र भला क्यों नहीं होगा ? अवश्य ही होगा। मुनि दान से आहार दान से समस्त भोग अनायास प्राप्त हो जाते हैं ।। ९१ ।।

अत्यल्पेनाऽपि दत्तेन पात्र स्यैवं विधस्य हि ।
तन्नास्ति प्राप्यते यन्न वाञ्छितं पर जन्मनि ।। ९२ ।।

ऐसे उत्तम पात्र को अत्यन्त अल्प भी आहार दान जो देता है, उसे संसार में कोई ऐसा पदार्थ नहीं जो इच्छा करने पर प्राप्त न हो। सभी कुछ प्राप्त होता है। इसी भव में नहीं परभव में भी उत्तमोत्तम भोगोपभोग सामग्री प्राप्त होती है ।। ९२ ।।

दर्शनेनैव पापानि नश्यतन्त्य तस्य रवे रिव ।
तमांसि कथ्यते किं वा यदि दानादि सङ्गमः ।। ९३ ।।

इन पुण्य मूर्ति के दर्शन मात्र से ही पाप समूह नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार रवि के उदय होते ही रात्रिजन्य घोर अन्धकार नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार अशुभ कर्म इनके दर्शन से विलीन हो जाते हैं फिर यदि दानादि का संयोग प्राप्त हो जाय तो कहना ही क्या ? ।। ९३ ।।

मादृशां मन्द भाग्यानां विलीयन्ते मनोरथाः ।
असम्पूर्णा मनस्येव तरङ्गा इव वारिधेः ।। ९४ ।।

मेरे समान मन्द भागी के मनोरथ तो मन ही मन उठ कर विलीन हो जायेंगे। जिस प्रकार कि विशाल सागर में उत्पन्न अनेकों लहरें उठ-उठ कर उसी में घुल-मिल जाती हैं। क्या मेरे मनोरथ पूर्ण होंगे ? वे तो अधूरे ही हैं ।। ९४ ।।

आक्रामन्ति विपुण्यस्य पादपद्मैर्न मन्दिरम् ।
यतयो जायते कस्य प्राङ्गणे वा सुर द्रुमः ।। ९५ ।।

पुण्यहीनों का मन्दिर (घर) श्रेष्ठ यतियों के चरण कमलों से आक्रान्त नहीं होता । किस पापी के प्रांगण में कल्पवृक्ष आयेगा ? नहीं आ सकता ।। ९५ ।।

परित्यज्य च पुण्यानि हेतुमस्य वितर्कये ।
कञ्चनापि यतीशस्य लाभे चिन्तामणे रिव ।। ९६ ।।

अथवा चिन्तामणि समान इस प्रकार के मुनीश्वर के विषय में इस प्रकार की तर्कणा नहीं करना चाहिए । ये महान पुण्य के हेतु हैं । महा पुण्यों को छोड़कर इन तर्कों से क्या प्रयोजन ? ठीक है इनका लाभ चिन्तामणि समान दुर्लभ है तो भी ।। ९६ ।।

तथापि सावधानोस्मि मा कदाचित्तवागमः ।
व्यवसाय वशात् पुंसां जायते विपुलं फलम् ।। ९७ ।।

मैं इस विषय में सावधान रहूँ क्योंकि मनुष्य को पुरुषार्थवश अचिन्त्य वस्तुओं की प्राप्ति भी सम्भव हो जाती है । पुरुषार्थी को अपने सफल उद्योग से विपुल फल प्राप्त हो जाता है ।। ९७ ।।

विभाव्येति प्रसन्नात्मा धौत वस्त्रोत्तरीयकः ।
मार्गं मन्वेषयंस्तस्य त स्थौ द्वारे स्व सद्मनः ।। ९८ ।।

इस प्रकार विचार कर उसने स्नानादि कर शुद्ध स्वच्छ सफेद वस्त्र धारण किये । वह अति प्रसन्नात्मा अपने द्वार पर द्वारापेक्षण को खड़ा हो गया । चारों ओर मार्ग अन्वेषण करने लगा । किधर से मुनिवर आ जाँये ।। ९८ ।।

अथा सौ प्रेरित स्तस्य पुण्यै रिव यथा मुनिः ।
तेनैवापक्रमात् क्रामन्नुच्च नीच गृहावलीः ।। ९९ ।।

मानों इसके तीव्र पुण्योदय से प्रेरित हुए मुनिराज ईर्यापथ शुद्धि पूर्वक वन से चर्यार्थ निकले । वे मुनि क्रमशः अमीर-गरीब का भेद न कर अपने क्रमशः पर्यटन करते आये ।। ९९ ।।

वीक्षितश्च ततस्तेन दुर्गते नेव सन्निधिः।
पुण्य पुञ्ज इव स्वस्याभि मुखो वा स्व वेश्मनः ॥ १०० ॥

गृहावलियों का उल्लंघन करते हुए उस महानुभाव शिवदेव के घर की ओर आये। मन्द-मन्द गमन कर आते हुए उन यतीश्वर को देखकर उसे अत्यानन्द हुआ। वे मुनिवर मानों दुर्गति में उत्तम निधि ही हैं। पुण्य पुञ्ज स्वरूप हैं। वे उसके घर के सामने आ पहुंचे ॥ १०० ॥

अग्रे भूयस्ततस्तेन प्रत्यग्राहि प्रयत्नतः।
उच्चस्थान स्थितस्यास्य चक्रे चरण धावनम् ॥ १०१ ॥

अपने सम्मुख पधारे महा मुनिराज को देख उसने स्वयं आगे आकर परम श्रद्धा, भक्ति, विनय, निर्लोभता, सन्तोषादि सप्त गुण युक्त होकर परमानन्द से पड़गाहन किया। अनन्तर पूर्वक गृह प्रवेश कराया। उच्च स्थान पर विराजमान किये। पुनः उनके पावन चरणों का प्रक्षालन किया ॥ १०१ ॥

तत् प्रवन्द्योदकं कृत्वा पूजामष्ट विधामसौ।
यावद्भोजयते भुक्ति धर्म मूर्त्ति मुनीश्वरम् ॥ १०२ ॥

गंधोदक मस्तक पर चढ़ाया। अष्ट-द्रव्य से पूजन कर अति भक्ति से नमस्कार किया। पुनः शुद्ध प्रासुक निर्दोष आहार दिया। वे साक्षात् धर्म मूर्ति स्वरूप मुनिराज भी समताभाव से आहार लेने लगे ॥ १०२ ॥

सूर देव यशोदेव नन्द दत्त वणिक् सुताः।
पद्मावती जय श्रीश्च सुलेखा मदना वली ॥ १०३ ॥

उसी समय सूरदेव, यशोदेव और नन्ददत्त वणिक् की पुत्रियाँ— पद्मावती, जय श्री, सुलेखा एवं मदनावली वहाँ आयीं ॥ १०३ ॥

लात्वा लेहनकं तावत् सर्वाभरण भूषिताः।
मत्वा सुवासिनी त्यस्य मातुराप्ता गृहं क्षणात् ॥ १०४ ॥

ये सम्पूर्ण आभरणों से भूषित थीं। इन्हें सुभाषिनी समझ कर शिवदेव की माता ने शीघ्र अपने घर में से कुछ लेह्य पदार्थ लाकर दिया ॥ १०४ ॥

निविष्टा स्तास्ततः सर्वास्तथा साथपि साधवे ।
तन्मध्यात् प्रददौ किञ्चित् तद्वाक्यात्तु तुष्टश्च ताः ॥ १०५ ॥

वे भी वहाँ चारों बैठीं तथा उसी भोजन से लेकर उनके (शिवदेव के) कहने पर अत्यन्त संतुष्ट हो आहार दान दिया । क्योंकि मालिक की आज्ञा बिना दूसरे के घर का दिया आहार साधुजन नहीं लेते । इसलिए उसके कहने पर ही दिया ॥ १०५ ॥

अचिंतयंश्च ता धन्य तम एष महामतिः ।
यस्येदं दुर्गं तस्यापि धर्मं कार्यं महोद्यमः ॥ १०६ ॥

वे विचारने लगीं, अहो ये महामति दिगम्बर साधुराज धन्य हैं । परन्तु यह श्रावकोत्तम महानतम धन्य है जो इस दारिद्र दशा में भी इसे ऐसे सुपात्र–उत्तमपात्र का लाभ हुआ है । इस अवस्था में भी धर्म कार्य में महा उद्यमशील है ॥ १०६ ॥

नरनाथादयोऽप्यस्य पाद पद्मावलोकनम् ।
वाञ्छन्तोऽपि लभन्ते न मुनेन्द्रानं किमुच्यते ॥ १०७ ॥

बड़े-बड़े राजा महाराजा भी इनके चरण कमलों के दर्शन को चाहने पर भी प्राप्त नहीं कर पाते ऐसे पुण्यशाली पात्र की इसे उपलब्धि हुयी है ॥ १०७ ॥

अयि लक्ष्मि किमन्धासि येनेयं गुण शालिने ।
स स्पृहा नर रत्नाय सात्विकाय न जायसे ॥ १०८ ॥

न जाने लक्ष्मी अन्धी हो गई है ? क्या लक्ष्मी का विवेक नष्ट हो गया ? जो इस प्रकार के नर रत्न, गुणशाली, सात्विक, अन्य द्वारा स्पृहनीय इसके घर में नहीं आ रही है । हे लक्ष्मी क्या तुम नेत्र विहीन हो ? ॥ १०८ ॥

जन्मना वा धने नाऽपि विवेकेनापि किं नृणाम् ।
यदीदृशे महा पात्रे न किञ्चिदुप चर्यते ॥ १०९ ॥

संसार में मनुष्यों के पास यदि अत्यन्त धन भी हो, और विवेक भी हो तो क्या प्रयोजन ? यदि इस प्रकार के महा पात्र के लिए कुछ भी

उपचार नहीं करे। अर्थात् उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों को आहार दान नहीं दे तो उस धन और विवेक का कोई प्रयोजन नहीं है ।। १०९ ।।

एतस्य यानि पुण्यानि तानि नान्यस्य निश्चितम् ।
यवेतद्गृह मायातो दुर्लभो जगतां पतिः ।। ११० ।।

वस्तुतः इसका महापुण्य है, इस प्रकार का पुण्य अन्य किसी को भी नहीं हो सकता। विश्व वन्द्य, संसार के पति स्वरूप ये मुनीश्वर इसके घर पधारे हैं ।। ११० ।।

श्रद्धये च तदा ताभिस्तद्दानं भक्ति पूर्वकम् ।
मुहुर्मुनि मुहुस्तं च पश्यन्तीभिः स विस्मयम् ।। १११ ।।

वे चारों कन्या विस्मय से कभी पात्र को देखतीं तो कभी दाता को। बार-बार दान की प्रशंसा कर पूर्ण श्रद्धालु हो गईं। भक्ति से गद्गद् हो गईं ।। १११ ।।

त्वयापि पारितः साधुर्भक्तितो मनसा परं ।
आशङ्का विहीना मातु स्तद्दाना सहना हि सा ।। ११२ ।।

हे भद्र तुमने भी परम भक्ति से अचिन्त्य श्रद्धा से उन मुनिराज को निर्विघ्न, निरन्तराय पारणा कराया। किन्तु तुम्हारी माता के मन में उस दान के प्रति कुछ असह्य भाव जाग्रत हुआ ।। ११२ ।।

भुक्त्वासौ पि जगामातो यथा भीष्टं मुनीश्वरः ।
अनुव्रज्य प्रणम्यायात् वणिजोऽपि निजालयम् ।। ११३ ।।

परम वीतरागी मुनीश्वर पारणा कर अपने अभीष्ट स्थान को विहार कर गये। (तुम) वणिक् भी कुछ दूर उनके पीछे-पीछे जाकर पुनः नमस्कार कर वापिस अपने घर आ गये ।। ११३ ।।

यत्त्वया विहितं भद्र सिद्धयत्येतच्च कस्यचित् ।
भाजनं सर्व कल्याण सम्पदां नियतं भवान् ।। ११४ ।।

हे भद्र तुमने जो कुछ उस समय पुण्यार्जन किया था उसी का यह फल सिद्ध हुआ है कि तुम सम्पूर्ण कल्याणों के पात्र हुए। सभी सुखों

की साधन सम्पदा तुम्हारे ही पूर्वार्जित भाग्य का फल है अन्य का नहीं ॥ ११४ ॥

प्रशस्येति गता स्तास्तं स्व सद्म मुदिता स्तराम् ।
बुभुजे प्रत्यहं कृत्वातिथीनां सं प्रतीक्षणात् ॥ ११५ ॥

तुम्हारे घर से वे चारों कन्याएँ भी मुदित हो अपने-अपने घर चली गईं और प्रतिदिन सत्पात्र की प्रतीक्षा कर ही भोजन करने लगीं। अर्थात् प्रतिदिन द्वाराप्रेक्षण करतीं। आहार बेला के अनन्तर ही भोजन करतीं ॥ ११५ ॥

यतीश गुण भावितः सहज सौम्यता सङ्गतो ।
वसन्नीति विहायि ते रसिक चित्त वृत्तिस्तदा ॥
जगाममृति गोचरं सुचिर कालतो वाणिजो ।
निरन्तरमिमास्तथा समनु भूय सौख्यं मृताः ॥ ११६ ॥

वह वणिक् यतीश्वर के गुणों की अनुचिन्तना करता, अपने सहज भावों को उनकी सौम्यता से संङ्गत करता। इस प्रकार रसिक चित्तवृत्ति वह घर में रहने लगा। पुनः सुचिर काल बाद उनके गुणों का रसिक हो मृत्यु को प्राप्त हुआ। निरन्तर वह वणिक् और वे चारों कन्याएँ सौख्यानुभव कर सम्यक् मरण को प्राप्त हुए ॥ ११६ ॥

इस प्रकार श्री भगवद् गुणभद्राचार्य विरचित श्री जिनदत्त चरित्र का आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

(नवम्—सर्ग)

कृष्णाख्यो शिव देवोऽभूव भवो स्तद्दान पुण्यत: ।
श्रेष्ठिनो जीव देवस्य जिनदत्ताभिध: सुत: ।। १ ।।

उपर्युक्त शिवदेव उस उत्तम दान के पुण्य से तुम जीवदेव श्रेष्ठी की पत्नी जिनदत्ता के गर्भ से जिनदत्त नाम के पुत्र हुए हो ।। १ ।।

प्राप्त स्त्वं तत एवासि सौख्यं सर्वाङ्ग गोचरम् ।
अथवा लभ्यते किं न पात्र दानेन देहिभि: ।। २ ।।

उसी पुण्य से तुम्हें सर्वाङ्ग सुखकर भोगोपभोग सम्पदा प्राप्त हुयी है । अथवा संसारी प्राणियों को उत्तम दान के प्रभाव से क्या प्राप्त नहीं होता ? सब कुछ प्राप्त होता है ।। २ ।।

तासां यथानुरागेण सर्व दैवासि भावित: ।
तेनान्यासु नते स्त्रीषु साभिलाष मभून्मन: ।। ३ ।।

वे चारों कन्यायें भी योग्य प्रेमानुराग से अपने-अपने सद्भावानुसार सदैव विरक्त भाव से रहीं । सबका एक प्रकार परिणाम होने से अन्य स्त्रियों में उनका मन नहीं रमा ।। ३ ।।

जननी शङ्कया यच्च संक्लिष्टं हृदयं तदा ।
विपाकास्य चावापि मध्येनर्थं परंपरा ।। ४ ।।

तुम्हारी माँ ने दान के प्रति शङ्का कर कुछ क्लिष्ट रूप मन किया था उस पाप के कारण स्वरूप मध्य में अनर्थ की परम्परा को प्राप्त हुयी ।। ४ ।।

तद्विरामे च सम्पन्नं सम्पदां पद मुत्तमम् ।
कन्या चतुष्टयं तच्च स्वपरीणाम योगत: ।। ५ ।।

किन्तु उस विपाक के अन्त में समस्त सम्पदा युत उत्तम पद प्राप्त किया । वे कन्याये भी अपने-अपने परिणामानुसार कन्याएँ हुयीं और तुम्हारे द्वारा विवाही गईं ।। ५ ।।

चम्पाया सिंहल द्वीपे रथनूपुर पत्तने ।
चम्पायामेव सञ्जातं नारी रत्न चतुष्टयम् ।। ६ ।।

प्रथम चम्पानगरी में, दूसरी सिंहल द्वीप में, तीसरी रत्नपुर द्वीप में और चौथी चम्पापुर नगर में चारों नारी रत्न उत्पन्न हुयीं ॥ ६ ॥

विमलादिमतिः पूर्वा श्रीमती गदिता परा ।
शृंगारादि मतिश्चान्या विलासादि मतिस्तथा ॥ ७ ॥

प्रथम का नाम विमलामती, द्वितीया का नाम श्रीमती, तीसरी का नाम शृंगारमती और चौथी का नाम विलासमती विख्यात हुआ ॥ ७ ॥

परिणीतास्त्वया सर्वास्तत्र तत्र नरान्तरम् ।
अनिच्छन्त्यः क्रमाद्भद्र भवत् सङ्गम लालसाः ॥ ८ ॥

हे भद्र ये चारों ही अन्य पुरुषों से विरक्त, तुम्हारे ही संगम की लालसा रखने वाली उस-उस नगर में जाकर तुमने वरण की । अतः क्रमशः तुम इनकी जन्म भूमि में पहुँचे और पूर्व भवजन्य स्नेह से तुम्हारे सङ्गम की इन्हें अभिलाषा हुयी । तदनुसार तुम्हारी पत्नियाँ हुयीं ॥ ८ ॥

माहात्म्या त्तस्य दानस्य साधैमाभिनिरन्तरम् ।
सारं संसार वासस्य भुज्यते भवता सुखम् ॥ ९ ॥

यह सब उस आहार दान का ही माहात्म्य है कि तुम इन चारों प्रिय वल्लभाओं के साथ निरन्तर संसार वास के सारभूत सुख को भोग रहे हो ॥ ९ ॥

निगद्येति यतौ तत्र विरते स्मृत वानसौ ।
निज जन्म समंताभिर्मुमूर्च्छ च ततो द्रुतम् ॥ १० ॥

इस प्रकार उन दिव्य ज्ञानधारी परम गुरु श्री मुनीन्द्र ने इनके पूर्वभव स्पष्ट रूप से वर्णित किये । जिसे सुनकर उसे उसी समय जाति-स्मरण हो गया । अपने-अपने पूर्वभव का समस्त वृत्तान्त चित्रपट की भाँति इसके समक्ष आया और उसी समय मूर्च्छित हो गया ॥ १० ॥

अचिरादुप चारं स समासाद्यततो भवात् ।
अङ्गनाभिः समं पृष्ट उत्थितो विस्मितं जनैः ॥ ११ ॥

शीघ्र ही उचित शीतोपचारादि करने पर शीघ्र ही संज्ञा-सचेतना प्राप्त की और अपनी प्रियाओं के साथ उठ बैठा । उपस्थित जन विस्मित हुए और अचेत होने का कारण पूछा ॥ ११ ॥

तदीयं च तथा वृत्तं जनेभ्यो भव्य बान्धवः।
इदं विचिन्तया मास संविग्नो हृदये तदा ॥ १२ ॥

उसने (जिनदत्त) भी अपना सकल वृत्तान्त सुनाया, सबकी शंका निवारण की तथा संसार से उद्विग्नमना होकर इस प्रकार चिन्तवन करने लगा ॥ १२ ॥

अद्यैव साधुना नेन चक्षु रुद्घाटितं मम।
विषयाशा विमुग्धस्य दर्शयित्वा भवान्तरम् ॥ १३ ॥

अहो ! आज इन साधु रत्न ने मेरे मिथ्या तिमिर से आच्छादित लोचन उन्मीलित किये हैं। विषयों में उलझे, आशाजाल में पड़े मेरे पूर्व भव का स्वरूप दिखाकर मेरी निद्रा भंग की है ॥ १३ ॥

न मया विहितं किञ्चिद्दाद्य दौर्भाग्य योगतः।
अज्ञत्वाच्च तथापीत्थं सम्पदा मस्मि भाजनम् ॥ १४ ॥

उस भव में दुर्भाग्य के योग से मुझे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ— भिखारी जैसा जीवन था। अज्ञ होने पर भी जो कुछ एक दिन पुण्य सम्पादन किया उससे इस समय अनेक सम्पदाओं का पात्र हुआ हूँ ॥१४॥

अत्यल्प मप्यहो न्यस्तं विधिना पात्र सत्तमे।
शत शाखं फलत्याशु वट बीज मिव ध्रुवम् ॥ १५ ॥

अहो ! दान का चमत्कार, अत्यन्त अल्प विधिवत् उत्तम पात्र को दान दिया वह आज वट बीज की भाँति निश्चय ही सैंकड़ों शाखाओं के रूप में फलित हुआ है। वस्तुतः सत्पात्र दान हजारों गुणा फल प्रदान करता है। किन्तु भक्ति पूर्वक विधिवत् दिया जाना चाहिए ॥ १५ ॥

तावतैव यदि प्राप्तः सम्पदं जगदुत्तमाम्।
स्वर्मोक्ष सुख सम्पत्तिः सुलभैव ततो ध्रुवः ॥ १६ ॥

यदि इतने मात्र से जीव इतनी उत्तम भोग सम्पदा प्राप्त कर सकता है तो क्या विशेष त्याग से स्वर्ग मोक्ष की सुख सम्पदा सुलभ नहीं होगी ? अवश्य ही सरलता से प्राप्त हो सकती है ॥ १६ ॥

परं चेतयते जन्तु र्नात्मानं मूढ मानसः।
प्रमाद मद मात्सर्य मोहाज्ञाने निरन्तरम् ॥ १७ ॥

किन्तु यह मूढ़ प्राणी, प्रमाद, मद, मोह, अज्ञान और मात्सर्यादि से अभिभूत हुआ निरन्तर उन्हीं का सेवन करता है आत्मा की चिन्ता नहीं करता। आत्म चेतना पाना ही नहीं चाहता ॥ १७ ॥

न माता न पिता नैव सुहृद: स्निग्ध बन्धव: ।
तथा प्रेम करा नृणां निस्पृहा, य तयो यथा ॥ १८ ॥

संसार में जिस प्रकार निस्पृह यति जन-वीतरागी साधु आत्म हित करने वाले यथार्थ हितु हैं, उस प्रकार माता, पिता, मित्र, बन्धु-बान्धव कोई नहीं हैं। ये सब बाह्य में स्नेह बद्ध दिखलाई पड़ते हैं। भोगों के साथी हैं आत्म-कल्याण के नहीं ॥ १८ ॥

जिन शासन मुद्दिश्य दीयते किम पीहयत् ।
क्रियते कृत कृत्यत्वं तेनेवास्ति विसंशयम् ॥ १९ ॥

इस समय इन्होंने जिन शासन का सारभूत कुछ उपदेश किया है। वह अल्प है तो भी मुझे कृतकृत्य कर दिया। मेरे संशय को नष्ट किया ॥ १९ ॥

अधुना बिकला सर्वा सामग्री मम वर्त्तते ।
परीत्यज्य बहिर्भावं विदधामि ततो हितम् ॥ २० ॥

इस समय अविकल रूप से समस्त सामग्री मेरे सामने उपस्थित है। अत: अब समस्त बाह्य भावों का परित्याग कर आत्महित में प्रवृत्त होता हूँ। अर्थात् ज्ञान वैराग्य सम्पन्न हो सकल संयम धारण करना चाहिए ॥ २० ॥

तथाह्ययं महा मोह हुताशनशमनाम्बुद: ।
अस्माकमेव पुण्येन समायान्मुनि पुङ्गव: ॥ २१ ॥

क्योंकि मोह रूपी भयंकर अग्नि के लिए शमन करने को ये शान्ति जल से भरे हुए सघन मेघ हैं। हमारे पुण्योदय से ही ये महामुनि पुङ्गव यहाँ पधारे हैं ॥ २१ ॥

अर्जरी कुरुते यावि न शरीर मिदं जरा ।
आक्रमन्ती महा वेगा द्व्या त्येव च कुटीरकम् ॥ २२ ॥

जब तक इस शरीर रूपी कुटिया को जरा जर्जरित नहीं करती, वेग से चलने वाली तीक्ष्ण पवन रूपी मृत्यु जब तक उड़ा नहीं ले जाती उसके पूर्व ही इसके आक्रमण से बचने का प्रयत्न करना चाहिए ॥ २२ ॥

विवेकोऽपि स्थिरीभूतो मनागस्य महा मुनेः ।
वचस्यैव हृदि व्यक्ता विज्ञाता च भवस्थितिः ॥ २३ ॥

इन मुनीश के अमृत रूप वचनों से मेरा मन स्थिर हुआ है कुछ विवेक जाग्रत हुआ है तथा मेरे हृदय में पूर्वभव की स्मृति भी जागृत हुयी है ॥ २३ ॥

पादमूले मुने रस्य विदधामि ततस्तपः ।
विचिन्त्येति ततो नत्वा समुवाच यतीश्वरम् ॥ २४ ॥

"इसलिए अब मैं इन्हीं श्री गुरु के पादमूल में पवित्र तप धारण करता हूँ।" इस प्रकार विचार कर दृढ़ निश्चय करता हुआ श्री गुरु राज को नमस्कार कर इस प्रकार प्रार्थना करने लगा ॥ २४ ॥

यथा प्रसादतो नाथ भवतः स्व भवोमया ।
सम्यगध्यक्षतां नीतो नरामर नमस्कृतः ॥ २५ ॥

हे नरामर पूजित पाद पद्म ! गुरुदेव ! आपके प्रसाद से मैंने अपने भव प्रत्यक्ष की भांति स्पष्ट जान लिये। उससे जो मुझे आनन्दानुभव और सन्तोष प्राप्त हुआ है ॥ २५ ॥

न कल्प पादपः सूते न चकाम दुधान च ।
चिन्तामणि रचिन्त्यं यत् फलं त्वत्पाद सेवनम् ॥ २६ ॥

वह कल्पवृक्ष, कामधेनू एवं चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति होने पर भी नहीं हो सकता। अर्थात् इनके सेवन से वह अचिन्त्य फल प्राप्त नहीं हो सकता है ॥ २६ ॥

दावदग्धो जनः सर्वः सर्वतो बोध शून्यकः ।
त्वत्पाद पद्म पर्यन्तं यावदेति न भक्तितः ॥ २७ ॥

ये संसारी प्राणी–मानव तभी तक संसार रूपी दावाग्नि में जलते रहते हैं जब तक कि आपके चरण कमलों में भक्ति पूर्वक नहीं आते।

क्योंकि ज्ञान शून्य होने से उन्हें चारों ओर से संसार दाह पीड़ित करती रहती है। आप आत्म ज्ञानी हैं, ज्ञानाम्बु से ही दाह शान्त होती है ॥२७॥

भावि भूतं भवद्वस्तु तदस्तीह न भूतले।
ज्ञाने तव नयत् स्वामिन् करस्थामलकायते ॥ २८ ॥

भूत, भविष्य और वर्तमान कालीन ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो हाथ की हथेली पर रक्खे आंवले की भाँति आपके ज्ञान में नहीं झलकती हो। अर्थात् सम्पूर्ण वस्तुओं के आप ज्ञाता हैं ॥ २८ ॥

भ्राम्यतां नाथ जीवानामस्मिन् संसार कानने।
सम्यग्मार्गोप देष्टान्यो भवतो स्ति न कश्चन ॥ २९ ॥

हे नाथ ! इस भयंकर संसार रूपी अटवी में भटकते हुए जीवों को सम्यग उपदेश देने वाला आपके सिवाय अन्य कोई भी नहीं है ॥ २९ ॥

शरणश्च त्वमेवासि सदा दुर्गति पाततः।
अस्यतामस्तु ते नाथ प्रसादो मम दीक्षया ॥ ३० ॥

हे नाथ ! आप ही दुर्गति पतन से बचाने वाले हैं। आप ही एक मात्र शरण हैं। सदा रक्षक हैं। मैं संसार त्रस्त हूँ। मुझ दुखिया पर प्रसन्न होइये। मुझे निर्वाण दीक्षा प्रदान कर अनुग्रहीत कीजिये ॥ ३० ॥

स निशम्य वचस्तस्य प्रोवाचेति यतीश्वरः।
भव्य चूडामणे सूक्त मुक्तं किन्तु परं श्रृणु ॥ ३१ ॥

इस प्रकार वैराग्यपूर्ण वचन सुनकर करूणा निधान गुरुवर कहने लगे "हे भव्य चूडामणे" ! आपने यथार्थ प्रश्न किया है तो भी मैं कुछ कहता हूँ अवहित होकर सुनो ॥ ३१ ॥

त्वादृशां सुकुमाराणां तपोनामैव सुन्दरम्।
न जातु सहते जाति कुसुमं हिम वर्षणम् ॥ ३२ ॥

हे भद्र ! तुम्हारे जैसे सुकुमारों को इतना कठोर तप शोभनीय नहीं होगा। क्योंकि जाति पुष्प कभी भी हिम वर्षा को सहन नहीं कर सकता। अर्थात् तुम जाति पुष्प सदृश सुकुमार हो भला प्रचण्ड हिमपात समान तप किस प्रकार सह सकोगे ? ॥ ३२ ॥

बालुका कवलं भोक्तुं पातुं ज्वाला हुविर्भुजः।
बन्धुं गंध वहो दोर्भ्यां तरीतुं मकरालयम् ।। ३३ ।।

मेरुस्तोलयितुं सन्तु धारायां खलु लीलया।
शक्यं संचरितुं भातु प्राप्तुं पारं विहायसः ।। ३४ ।।

न तु नैग्रंन्थ्य दीक्षायाः सन्मुखं क्षणमप्यहो।
भवितुं भावीयत्तत्र कष्टमेव समन्ततः ।। ३५ ।।

हे मनीषि ! बालू के कवलों द्वारा भोजन करना, भयंकर अग्नि ज्वाला का पान करना, तीक्ष्ण पवन से उद्वेलित समुद्र को बाहुओं से तैरना, मेरू पर्वत का तोलना, पृथ्वी का मापना, आकाश का पार पाना कदाचित लीलामात्र में सम्भव हो सकता है परन्तु जिन दीक्षा—निर्ग्रन्थावस्था धारण कर क्षणभर भी टिकना महान दुष्कर है, इसके समक्ष चारों ओर भयङ्कर कष्ट ही कष्ट हैं ।। ३३, ३४, ३५ ।।

क्षुधादि च तथात्यङ्ग नाग्न्यमङ्गोपतापकम्।
धर्त्तव्यं विधुलोद्दाम मनो मल्ल विजृंभितम् ।। ३६ ।।

क्षुधादि परीषहों का सहना, अत्यन्त अङ्गों को तापदायक नग्नत्व धारण करना मन रूपी विस्तृत मल्ल को वश करना चाहिए ।। ३६ ।।

मनसापि न यः शक्यः पुंसां चिन्तयितुं स च।
महाव्रत महाभारो धर्त्तव्यो जीवितावधि ।। ३७ ।।

यह महाव्रत महान है, महा गम्भीर है, जो मनुष्य मन से भी इसका चिन्तन करने में भी समर्थ नहीं हो सकता फिर यावज्जीवन धारण करना महा दुर्लभ है ।। ३७ ।।

स्वच्छन्दं स्पन्दनं नैव शृङ्खलाभिरिवा भितः।
एकाभिरता च संसेव्या सदा समितयो ध्रुवम् ।। ३८ ।।

पाँचों समितियाँ चारों ओर शृंखला के समान वेष्टित करने वाली हैं। स्वच्छंदता से एक श्वास भी जीव नहीं ले सकता। अर्थात् जीवन के प्रवाह पाँचों समितियों के मध्य से ही चलना चाहिए। सभी का सदा सेवन करना चाहिए ।। ३८ ।।

एकैक सोपि येविश्व माक्रान्तं करणानि च।
जेयानि तानि सर्वाणि मनसा सह सर्वदा ॥ ३९ ॥

ये इन्द्रियाँ एक-एक ही विश्व को व्याप्त किये हुए हैं अर्थात् संसार को वश करे हुए है पाँचों इन्द्रियों की तो बात ही क्या है ? इन जगज्जयी इन्द्रियों को मन के साथ जीतना चाहिए अर्थात् वश करना चाहिए ॥३९॥

यथाकालं च कर्त्तव्यं षडावश्यक मञ्जसा।
प्रमादेन विना भद्र श्रद्धा संशुद्ध चेतसा ॥ ४० ॥

हे भद्र ! प्रमाद का त्याग कर निरन्तर प्रतिदिन यथा समय षडावश्यक पालन करना चाहिए। सतत श्रद्धा पूर्वक शुद्ध चित्त से यथा काल, जिन वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, समता भाव धारण कर और कायोत्सर्ग करना आवश्यक है ॥ ४० ॥

नितान्तं सुकुमारस्य महा माल्योचितस्य च।
कार्यं केशकलापस्य लुञ्चनं सुधिया तथा ॥ ४१ ॥

रोम वल्कल पत्राद्या वरणान्यपि यत्र नो।
अचेलक्यं तदत्यन्त क्लेशकारि सहेतकः ॥ ४२ ॥

नितान्त सुकुमार, सुकोमल, महा माल्योचित केशों का हे सुधि ! शुद्ध बुद्धि से अपने हाथों से लौंच करना चाहिए तथा शरीर पर वल्कल, पत्रादि का भी आवरण नहीं करने वाला अचेलत्व व्रत महा क्लेशकारी है उस कठोर नग्नत्व का कष्ट सहना होता है ॥ ४१-४२ ॥

आजन्म मल जल्लादि लिप्त देह तया स्थितिः।
स शर्करा धरा शय्या मुख वासादि वर्जनम् ॥ ४३ ॥

जीवन पर्यन्त जल्ल मल्ल से लिप्त देह की स्थिति रखना चाहिए अर्थात् यावज्जीव स्नान त्याग करना होगा। कंकरीली-पथरीली भूमि पर शयन करना होगा, वस्त्रादि रहित भूमि मे सोना पड़ेगा ॥ ४३ ॥

वल्भनं पाणि पात्रेण काले कार्यं यथा विधिः।
स्थितेन सकृत् सकृत् कायस्य स्थिति हेतवे ॥ ४४ ॥

अपने हाथों में शुद्ध प्रासुक आहार दाता के द्वारा यथा विधि दिया

हुआ ग्रहण करना होगा। वह भी एक ही स्थान पर स्थिर होकर और दिन में एक ही बार करना होता है ॥ ४४ ॥

इति मूल गुणा ह्यष्ट संक्षेपेण प्रकीर्तिताः।
त्रिकाल योग सेवाद्या नियमाश्चोत्तरे परा: ॥ ४५ ॥

मात्र शरीर स्थिति निमित्त ही साधु भोजन-आहार लेते हैं। इस प्रकार ये साधु के संक्षेप में २८ मूल गुणों का वर्णन किया। त्रिकाल योग, सेवा आदि उत्तर गुण अनेक हैं ॥ ४५ ॥

दु:सहा: सर्वत: सन्ति प्रसूताश्च परीषहा:।
ध्यानाध्ययन कर्माणि कर्त्तव्यानि निरन्तरम् ॥ ४६ ॥

निरन्तर ध्यान और अध्ययन करना, असहनीय दुर्धर परीषहों का सहना महा कठिन है। चारों ओर परिषहों से उत्पन्न दुःखों से भरा है साधु जीवन ॥ ४६ ॥

तत्रात्मानं कथं क्षेप्तुं सर्वदा सुख लालितं।
शक्नुवन्ति महा प्राज्ञुवन्ति बुद्धे कोमलाङ्गा भवादृशा: ॥ ४७ ॥

पूजा श्रीमज्जिनेन्द्राणां दानं सर्वाङ्गि तर्पकम्।
विवेकश्चेदृशो भद्र तपोन्य त्ते किमुच्यते ॥ ४८ ॥

हे महा बुद्धिमन ! सर्वदा सुख में पले हुए तुम्हारे जैसा कोमलाङ्गी भला किस प्रकार अपने को उन दुःखों में डाल सकेगा—सहन करने में समर्थ हो सकेगा ? अर्थात् इस दुर्गम पथ पर चलना तुम जैसे सुकुमार को सम्भव नहीं। इसलिए आप गृहस्थ धर्म का ही पालन करो। श्री मज्जिनेन्द्र भगवान की पूजा करना, सर्वाङ्गों को तृप्त कारक शुद्ध एवं प्रासुक आहार दान देना यही आप जैसे विवेकी को उचित है। हे भद्र ! तप धारण करना अन्य मार्ग है, उसके विषय में क्या कहें ॥ ४७–४८ ॥

स्वर्गापवर्ग सौख्यस्य पारंपर्येण कारणम्।
गार्हस्थ्यमेव यद्युक्तं पालितुं प्रिय दर्शनम् ॥ ४९ ॥

गार्हस्थ धर्म भी परम्परा से मोक्ष सुख का कारण है। इसलिए

वही सम्यक्त्व पूर्वक पालनीय है। अतः आप शुद्ध गृहस्थ धर्म ही सेवन करो ॥ ४९ ॥

अतो गृहस्थ भावस्थो ज्ञात तत्त्वो भवानिह।
दान पूजा रतः शील सम्पन्न स्तनुतात्मितम् ॥ ५० ॥

अतएव आप गृहाश्रम में गार्हस्थ भाव में रहकर तत्त्वों का परिज्ञान करो। दान, पूजा में रत हो शील सम्पन्न होकर आत्म हित विस्तृत करो ॥ ५० ॥

विरते प्रतिपक्षेति यतीशे स जगाविति।
स्मित्वोचितं न नो नाथ गुरूणां दातुमुत्तरम् ॥ ५१ ॥

इस प्रकार सम्यक् प्रकार यति धर्म का ज्ञान कराया और उसकी कठिनाइयों का उपदेश दिया। समझा कर जब यति राज ने विराम लिया तब कुमार (जिनदत्त) मुस्कुराता हुआ बोला "हे नाथ ! गुरुजनों को उत्तर देना उचित नहीं है" ॥ ५१ ॥

जानन्ति च य एवात्र युक्ता युक्तं यथाभवत्।
प्रसादो जल्प यत्येष तेषामेव तथापि माम् ॥ ५२ ॥

यहाँ जो युक्त और अयुक्त कार्यों को यथोचित जानते हैं उनका प्रसाद ही मुझे यहाँ कह रहा है। अर्थात् विवेक पूर्वक मैं कुछ कह रहा हूँ ॥ ५२ ॥

तपसो दुष्करत्वं यत् पूर्वं मुक्तं महामुने।
तत्तथैव समस्तं हि को न वेत्तीति बुद्धिमान् ॥ ५३ ॥

हे महामुने ! आपने उपर्युक्त प्रकार तप को अति दुष्कर वर्णित किया है वह तथैव प्रकारेण कठिन है। समस्त बुद्धिमानों में कौन इसे नहीं जानता ? अर्थात् सभी विज्ञ जन भली प्रकार जानते हैं ॥ ५३ ॥

परं विचार्यते चारु चारित्रेयं भवस्थितिः।
यथा यथा कृतं कष्टं प्रतिभाति तथा तथा ॥ ५४ ॥

परन्तु विचार करने पर प्रतीत होता है कि संसार स्थिति का ज्यों ज्यों सम्यक् प्रकार से स्वरूप चिन्तन किया जाता है तो इसके कष्टों के समक्ष त्यों-त्यों निर्मल चारित्र प्रतिभासित होता जाता है।

अभिप्राय यह है कि संसार के भीषण कष्टों के समक्ष तपोजन्य कष्ट कुछ भी नहीं हैं ॥ ५४ ॥

निशात शस्त्र संधात घात खण्डित विग्रहाः ।
परस्पर परीवाद शरणा हित निग्रहाः ॥ ५५ ॥

नरक भव के कितने कष्ट सहे, सुनिये, अति तीक्ष्ण शस्त्र के समूह से घात किये जाने पर शरीर के खण्ड-खण्ड कर दिये गये। परस्पर परीवाद कर शरण में प्राप्त का भी निग्रह कर डाला ॥ ५५ ॥

महा वात महा शीत महातप कदर्थिताः ।
स्व काय कर्त्तन ग्रास फल यद्भोजनार्थिनः ॥ ५६ ॥

दन्तोष्ठ कण्ठ हृत्पार्श्व मुख तालुक कुक्षिणः ।
वैतरण्या हृता तर्षा वसा पूया स्रवारिणः ॥ ५७ ॥

धौतासि पत्र शंकाश पत्र कृत्येव नान्तरे ।
श्व काक कङ्क गृद्धा हि श्वापदानां नगान्तरे ॥ ५८ ॥

क्वचिद्यन्त्रैः क्वचित् कुम्भी पाकै रायस कण्टकैः ।
क्वचिच्च कूट शाल्मल्या रोहावतरणैरपि ॥ ५९ ॥

शारीरं मानसं वाचं सहन्ते शरणोज्झिताः ।
यावदायु र्न किं दुःखं नरके नारकाः भृशम् ॥ ६० ॥

महा वायु से ताडित होता है, महाशीत और आतप की व्यथा सहन करता है, नाना प्रकार से शरीर कदर्थित-दलन-मलन किया जाता है, भोजन की चाह की तो, उसी के शरीर को काट-काट कर उसे खिलाते हैं, दांत, ओष्ठ, कण्ठ, तालु, हृदय, पसली, पेट आदि अंगों का छेदन-भेदन करते हैं। तृषातुर हुआ तो वैतरनी नदी में ले जाकर डालते हैं जो रुधिर, राध से भरी है महान दुर्गन्ध पूर्ण है। सेमर के वृक्ष हैं वहां छाया की आशा से उनके नीचे गया तो पैनी तलवार के समान उनके पत्तों के गिरने से शरीर क्षार-क्षार छिन्न-भिन्न हो गया। वन में भी शरण नहीं। भयंकर कुत्ते, काक छुरी समान चोंच वाले गिद्धपक्षी आदि श्वापदों से भरे पर्वतों पर उनके द्वारा खाया गया। कभी यंत्रों से चीरा-फाड़ा गया, कभी कुम्भीपाक में पकाया गया कभी पैने कांटों पर मला गया, कांटों द्वारा कभी छेदा गया, और कभी शाल्मली वृक्षों पर

चढाया-उतारा गया उन वृक्षों पर कीलों के समान कांटें होते हैं बलात् उन पर चढाने-उतारने से रगड कर शरीर लोह लुहान हो जाता है। क्या कहूँ वहां शारीरिक मानसिक एवं वाचनिक अनेकों कष्टों को सहा। वहां एक क्षण को भी कोई शरण नहीं। मरण भी नहीं हो सकता अर्थात् आयुष्य पर्यन्त महाभयंकर दुःखों को सहना ही पडता है क्योंकि वहां अकाल मरण नहीं हो सकता। शरीर छिन्न-भिन्न होने पर पुनः पारे के समान जुड जाता है। इतने घोर दुःख नरकों में हैं ॥ ५६, ५७, ५८, ५९, ६० ॥

> सर्वदैव पराधीन वृत्तयः प्रतिकारतः।
> विनारण्य भुवो लोक मध्यथा रतु समन्ततः ॥ ६१ ॥
>
> हेयादेय विकल्पेन विकलाः सर्वथा त्रिधाः।
> सहन्ते दुःख संभारं तिर्यञ्चोऽपि दिवानिशम् ॥ ६२ ॥

पशु पर्याय की क्या कथा ? सर्वदा पराधीन वृत्ति रहती है। दुःख-सुख का प्रतिकार करने की योग्यता ही नहीं है। इस मध्य लोक में उत्पन्न होकर भी चारों ओर से अरण्य में असहाय हो दुःख ही सहे। निरंतर हेयादेय बुद्धि शून्य रहा। कर्त्तव्याकर्त्तव्य विचार हीन होकर मानसिक, दैहिक और भौतिक तापों के भयंकर दुःख समूह को सहन किया। रात-दिन विपत्तियों का ही शिकार बना रहा ॥ ६१-६२ ॥

> प्राप्यते पुण्य योगेन मानुषत्वं कथञ्चन।
> भ्राम्यता भूरि दुःखासु चिर कालं कुयोनिषु ॥ ६३ ॥

पुनः किसी-किसी प्रकार महान दुर्लभ मनुष्य पर्याय प्राप्त हुयी। अनेकों दुःखों से भरे घनघोर तिमिराच्छन्न कुयोनियों में भटकते भटकते किसी प्रकार यह मानुष भव मिला ॥ ६३ ॥

> नूत्वेप्यनार्य खण्डेषु जन्म यत्र जिनोदितः।
> स्वप्नेऽपि दुर्लभो धर्मो देहिनामघमोहिनाम् ॥ ६४ ॥

मनुष्यों में भी म्लेच्छ खण्ड में उत्पन्न हुआ जहां श्री जिनेन्द्र देव द्वारा उपदिष्ट धर्म स्वप्न में भी प्राप्त न हो सका। पाप और मोह से अभिभूत प्राणी को भला जिनोदित धर्म वहां किस प्रकार प्राप्त होता ? ॥ ६४ ॥

प्रार्यं खण्डेऽपि संप्राप्ते वंशादे तत्र लभ्यते ।
सुजातिः सुकुलं सर्वं शरीर परिपूर्णता ॥ ६५ ॥

भाग्यवश आर्यखण्ड में जन्म लिया भी तो वहाँ उत्तम शुद्ध सुजाति, सुकुल, सुवंश नहीं प्राप्त हुआ । यही नहीं शरीर के अङ्ग भी परिपूर्ण नहीं मिले । कभी विकलाङ्ग और कभी हीनाङ्ग हुआ जिससे पूजा दानादि की योग्यता ही नहीं हुयी ॥ ६५ ॥

कुल आत्मादि संपत्तौ गर्भादेव विपत्तय: ।
शतश: सन्ति योगीन्द्र लंघितास्ता: कथञ्चन ॥ ६६ ॥

तत्रापि मुग्ध बुद्धीनां बाल्यं यौवनमङ्गिनाम् ।
काम ग्रह ग्रहीतानां वार्द्धक्य विकलात्मनाम् ॥ ६७ ॥

हे योगीन्द्र ! किसी प्रकार कोई पुण्य योग से सज्जातित्वादि मिला भी तो गर्भवास में ही सेकड़ों विपत्तियाँ आ गईं । किसी तरह उन्हें पार कर जन्म भी हुआ तो हे देव बाल्यावस्था में मुग्ध बुद्धि-अज्ञानी रहा, यौवनावस्था में विषय-भोगों के नशे में डूबा रहा-काम पिशाच से ग्रसित हो धर्म-कर्म हीन रहा । वृद्धावस्था में तो इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं । शक्ति विकल हुयी । क्या करता ? ॥ ६६-६७ ॥

अनिष्टाभीष्ट संयोग वियोगं धन हीनता ।
आजन्म रोग मूयस्त्वं पर किङ्करता सदा ॥ ६८ ॥

कभी अनिष्ट पदार्थों के संयोग से व्याकुल रहा था तो कभी इष्ट वस्तुओं के वियोग में झुलसता रहा । कभी निर्धनता से पराभवों का दास बन कष्ट सहा तो कभी आजन्म दु:साध्य रोगों का दास बना रहा । बार-बार पर की दासता का दु:ख सहा । नौकर-चाकर होकर अनेकों दु:ख सहे ॥ ६८ ॥

इत्येवं दु:ख खिन्नानां नराणां सुख संकथा ।
मस्तकोपान्त विश्रान्त यमाहीनां सुदुर्लभा ॥ ६९ ॥

इस प्रकार नाना दु:खों से व्याकीर्ण इस मानव पर्याय की भी कथा क्या कही जा सकती है ? पैर से शिर तक विश्रान्त मानव को सुख सुदुर्लभ है । अर्थात् जन्म-मरण के दु:खों का पार नहीं है ॥ ६९ ॥

देवानामपि दुःखानि मानसानि पदे पदे ।
पश्यतामन्य देवानां विभूतिं भुवनोत्तमाः ॥ ७० ॥

आप कहें देव पर्याय में सुख होगा सो भी नहीं है । वहाँ पद-पद पर मानसिक कष्ट विद्यमान हैं । एक क्षण को भी स्वातन्त्र्य नहीं है, जब देवेन्द्र की जो आज्ञा होती है वही करना ही पड़ता है । पराभव और ईर्ष्या जन्य मानसिक कष्ट निरन्तर व्याप्त रहता है । झूरते रहते हैं । अपने से अधिक ऋद्धिधारियों के वैभव और भवनों को देख-देख कर ही मन में कुढ़ते रहते हैं ॥ ७० ॥

यातनेयानि दुःखानि क्रन्दतां शरणोज्झितम् ।
तश्चनारक देशीया स्तु सदोऽपि भवन्तिते ॥ ७१ ॥

शरण विहीन, त्राण रहित स्वर्ग में रह कर भी नारकियों के समान ही आक्रन्दनादि दुःखों को सहते हैं ॥ ७१ ॥

अतो ऽनादौ न कालेऽमूद्भ्राम्यतां भव कानने ।
सावस्था जायते यस्यां सुखं निर्दुःख मङ्गिनाम् ॥ ७२ ॥

अतएव इस अनादि संसार में अनादि से भ्रमण करते हुए इस जीव ने उस अवस्था को कभी प्राप्त नहीं किया जहाँ दुःख रहित सुख की प्राप्ति एक क्षण के लिए भी हुयी हो । अभिप्राय यह है कि जो कुछ इन्द्रिय-विषय जन्य सुख है भी तो वह दुःख पूर्वक ही है । सुखाभास है । यथार्थ नहीं ॥ ७२ ॥

न चास्ति किञ्चनाप्यत्र यन्न सोढं सहस्रशः ।
दुःखमेतेन जीवेन तथाथा जानता हि तम् ॥ ७३ ॥

हे नाथ ! इस संसार में कोई भी ऐसा दुःख नहीं है जिसे इस जीव ने भोगा न हो । जानते हुए भी उसी को पाने का प्रयत्न कर दुःखी रहा ॥ ७३ ॥

इदानीञ्च प्रसादेन भवतां भुवनाचित ।
प्राप्ते विवेक माणिक्य दीपके किं प्रमाद्यते ॥ ७४ ॥

हे त्रिभुवन पूजित पादपद्मे ! आज आपके प्रसाद से मुझे विवेक रूपी माणिक्य दीप प्राप्त हुआ है । इस भेद-विज्ञान प्रदीप को पाकर भी क्या प्रमाद करता रहूँ ? ॥ ७४ ॥

कल्याण कारिणी स्वामिन् चेदियं गृहमेधिता।
जायते जगती वन्द्य वृथैवायं श्रमस्तव ॥ ७५ ॥

हे देव ! यदि यह गृहस्थावस्था श्रावकों को कल्याणकारी होती अक्षय सुख का दाता होती तो फिर आपका श्रमणत्व जो जगत से वन्दनीय है व्यर्थ हो जाता। साधुजन का श्रम निरर्थक हो जाता ? कौन तप करता ? ॥ ७५ ॥

ततो स्तु निर्विकल्पं मे दीक्षणं क्षण भगुङरे।
एतदेव अत: सारं संसारे साधु सत्तम ॥ ७६ ॥

अतएव हे साधुसत्तम ! इस क्षणभंगुर असार संसार में एक मात्र सारभूत वस्तु जैनेश्वरी दीक्षा है। अत: यही मेरे लिए शरण होवे ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है। मैं निर्विकल्प रूप से यही धारण करने को तत्पर हूँ। अब आप जिन दीक्षा प्रदान कर मुझे कल्याण पथ पर आरूढ़ करें ॥ ७६ ॥

संविग्नस्य निशम्येति वचस्तस्य महामुनि:।
यथा भीष्टं महा बुद्ध क्रियतामितिऽसौ ब्रवीत् ॥ ७७ ॥

इस प्रकार संसार दु:खों से भयभीत अक्षय सुखाकांक्षी उस कुमार के वचन सुन यतीश्वर कहने लगे "हे महामते ! आपको जो अभीष्ट है वही कार्य करो। अर्थात् दिगम्बर दीक्षा से अलंकृत हो आत्म हित करो ॥ ७७ ॥

अत्रान्तरे बभोत्येष स्वमित्रं मति कुण्डलम्।
पुत्रेभ्यो दीयतां भद्र यथा योग्यं पदं लघु ॥ ७८ ॥

परम गुरु की आज्ञा पाते ही उसने अपने अतिनिकट उपस्थित मतिकुण्डल नामक मित्र से कहा—"हे भद्र आप शीघ्र ही मेरे पुत्रों को यथा योग्य पद प्रदान करो" ॥ ७८ ॥

तेनाहूतां समस्तास्ते प्रणम्यो प्राविशन्पुर:।
योगिनं पितरं सर्वे ज्येष्ठ मुचेपिता तत: ॥ ७९ ॥

मित्र ने लक्ष्मण श्री कुमार के पुत्रों को बुलाया। सभी ने योगिराज को नमस्कार किया। तदनन्तर पिता को प्रणाम कर सम्मुख उपस्थित हुए। तब पिता ने ज्येष्ठ पुत्र से कहा ॥ ७९ ॥

जानात्येव भवान् वत्स पूर्वक्रम मुदार धी: ।
तपस्यति यथा तातोऽस्य स्वंसर्व मात्मजे ॥ ८० ॥

असोऽहं त्वयिविन्यस्याधिपत्यमिदमादृतम् ।
विदधामि तप: पुत्र विधेया त्व ग्रहस्थता ॥ ८१ ॥

हे वत्स ! तुम उदार बुद्धि वाले हो, हमारी परम्परा के अनुसार जैसे मेरे पिता तपस्वी हुए उसी प्रकार मैं भी अब तप धारण करने को उद्यमी हुआ हूँ। उन्होंने अपना भार मुझे दिया अब मैं तुम्हें अपना उत्तराधिकार देता हूँ। तुम आधिपत्य स्वीकार करो। मैं निर्मल तपश्चरण धारण करता हूँ। हे पुत्र ! तुम्हें गृहस्थ धर्म स्वीकार करना चाहिए ॥ ८०–८१ ॥

आत्मवत् पालये रेतान् सर्वदेवानु जन्मन: ।
प्रकृतौ त्व समस्ता स्वयं विरक्ता जातु मा कृथा: ॥ ८२ ॥

अपने सभी भाइयों को अपने समान पालन करना। कभी भी उपेक्षा भाव नहीं करना। अपने स्वभाव में निरन्तर दया रखना कभी भी क्रुद्ध नहीं होना ॥ ८२ ॥

परित्यज्य समस्तानि कार्याणि च विशेषत: ।
कर्म धर्म्यं स्वयं भद्र कुर्या: स्वार्थ हित: सदा ॥ ८३ ॥

हे भद्र ! समस्त कार्यों को छोड़कर विशेषत: स्व आत्म कल्याणकारी धर्म कार्यों को प्रथम स्वयं सम्पादन करना। सदा स्वार्थ चिन्तन करना ॥ ८३ ॥

ततस्तात मुखाधाऽसौ वक्तु मेवं न युज्यते ।
यतो भुक्ता त्वया सम्पत् मातेव मम सर्वथा ॥ ८४ ॥

इस प्रकार पिता के आदेश और उपदेश को सुनकर ज्येष्ठ पुत्र सुदत्त कहने लगा "हे पिताजी, आप यह क्या कह रहे हैं ? जिस सम्पत्ति को आपने भोगा है वह मेरे लिए माता समान है। भला मैं उसे कैसे भोग सकता हूँ ? अर्थात् मुझे भोगना उचित नहीं। अभिप्राय यह है कि मैं भी दीक्षा धारण करूँगा" ॥ ८४ ॥

नास्ति तात: सुखं श्रेय: श्रुति रेषा कृतान्यथा ।
त्वयामोह तमश्छन्नं मार्गं दर्शयता मम ॥ ८५ ॥

संसार की नीति है और श्रुति भी यही है कि पिता अपने पुत्र को कल्याणकारी आज्ञा—उपदेश देता है। आप इसे अन्यथा कर रहे हैं। आप मुझे मोहांधकार से भरा मार्ग दिखा रहे हैं ॥ ८५ ॥

सन्ति पुत्रास्तवान्येऽपि कस्मैचिद्दीयतां ततः।
अहं च साधयिष्यामि स्वत् समीपे निजं हितम् ॥ ८६ ॥

ये अन्य भी सब आपके ही पुत्र हैं। इनमें से किसी को भी आप अपना आधिपत्य प्रदान करें मैं तो आप ही के सान्निध्य में रह कर अपना आत्महित साधन करूँगा। जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न करूँगा ॥ ८६ ॥

इत्यादिकं वचन् शेषमिभ तातादिभि बहु बोधितः।
प्रति जग्राह जनकस्य पदं तथा ॥ ८७ ॥

देश कोषादिकं तस्मै राज्यालंकृतिभिः सत्वम्।
अभिषेकं विधायाशु ददौ तत्र महोत्सवे ॥ ८८ ॥

पुनः पिता एवं मित्र ने बहुत प्रकार समझाया किन्तु उसका उत्तर एक ही रहा पिता के पथ का अनुशरण करना। अधिक कहने पर उसने स्वीकृति दी। तब पिता का पद उसे, देश, कोषादि—राज्यालंकृति के साथ प्रदान किया। प्रथम मंगलाभिषेक कर महोत्सव पूर्वक भार दे दिया ॥ ८७—८८ ॥

अन्येषां च स्तनूजानां यथा योग्यं प्रदाय सः।
सर्वाः संभावयामास प्रकृतीः कृत्य कोविदः ॥ ८९ ॥

अन्य लघु भ्राताओं को भी उसने यथा योग्य पद प्रदान किये। सभी को प्रकृति स्वभावानुसार सम्भावित पद और कार्य प्रदान किये ॥ ८९ ॥

कान्तास्ततो विगल राग विशुद्ध बुद्धिः।
श्रो वाच चारू चरिता हित चित्त वृत्तिः ॥

रागेण रोष वशतो रति कैतवेन।
मानेन मुग्ध मनसा मदनेन यच्च ॥ ९० ॥

हे कान्ते ? हमने राग से अथवा द्वेष से या रतिक्रीड़ा के कौतुकवश, मान से मुग्ध हो मन से अथवा कामदेव की विवशता से यदि कुछ अनुचित व्यवहार किया हो या कुछ ऐसा कहा हो तो आप क्षमा करें ऐसा उस विगत राग–शुद्ध चित्त, विशुद्ध बुद्धि कुमार ने अपनी पत्नियों से कहा। वे भी सुन्दर चरित्र, हित में चित्त वृत्ति लगाने वाली उसकी वाणी शान्ति से सुन रहीं थीं॥ ६०॥

प्रोक्ताश्चिरं तदखिलं क्षमये त्रिधाहम्।
श्रुत्वेति ताश्चरण मूलगताः समूचुः॥
क्षान्तं समस्तमपि नाथ सदास्मकाभिः।
क्षम्यं त्वयापि सकलं च कुरीहितं नः॥ ६१॥

पुनः वह कहने लगा, हे देवियो! "हमें, आप सब लोग मन, वचन, काय से क्षमा करें।" यह सुनकर वे उसके चरणों के समीप जाकर विनयावनत बोली हे नाथ! हमारी ओर से पूर्ण क्षमा है। आप भी हमारे समस्त दुष्कृत्यों को क्षमा करें॥ ६१॥

संप्रच्छ्य सर्वमिति लोक मलोल चित्तो।
यत्रैव चन्दन तरूस्तत एव सर्पः॥
शिश्राय साधु पदवीं सुहृवा समेतः।
संवेग शुद्ध हृदयं रपरैश्च भव्यैः॥ ६२॥

दृढ़ चित्त कुमार ने सम्पूर्ण बन्धु-बांधवों से क्षमा कराकर आज्ञा ली। सच ही है जहाँ चन्दन का वृक्ष होता है विषधर–सर्प वहीं रहता है। अतएव उसने अन्य सभी संवेगधारी भव्य जनों के साथ शुद्ध भाव से जिन दीक्षा धारण की॥ ६२॥

शम दम यम सक्ता गेह वासे विरक्ताः।
सितसि चय पटेन प्रावृता स्वस्व पुण्यैः॥
जिन पतिपद मूले ता बभूवु विरक्ता।
स्तदनु विशदचित्ता स्तस्य कान्ताः समस्ताः॥ ६३॥

इस समय वे गृहवास से पूर्ण विरक्त हो शम-कषायों का शमन, दम-इन्द्रिय निरोध, यम-यावज्जीवन चारों आराधनाओं की साधना में अटल होयीं। अपने पुण्य द्वारा वे भी जिनपति के पाद मूल में विरक्त हो

गईं। अपने पति का अनुकरण कर निर्मल चित्त से सभी ने दीक्षा धारण की। शुक्ल एक साड़ी धारण कर आत्म कल्याण में आरूढ़ हुयीं ॥९३॥

श्रुतं समस्तं विधिनाङ्ग पूर्वं।
प्रकीर्णकाख्यं समधीत्य सम्यक्।
गुरोः समीपे तपसां निवासः॥
सधर्म दानेन ननन्द पृथ्वीम्॥ ९४॥

अब उन मुनिराज जिनदत्त स्वामी ने क्रमशः विधिवत् अङ्ग और पूर्वों का अध्ययन किया। सम्यक् प्रकार प्रकीर्णकों को पढ़ा। गुरुदेव के समीप में रहकर आगमाभ्यास के साथ उग्र तपश्चरण करने लगे तथा सद्धर्मदान प्रदान कर पृथ्वी को आनन्दित किया॥ ९४॥

कुर्वाणो भव वारि राशि तरणं तीव्रं तपः कारणम्।
सम्यक् सिद्धि सुखस्य संयम निधिर्धात्री विहृत्यागमत्॥
सम्मेदं मुदिता शयो मुनि जनैः सार्द्धं विबुध्यात्मनः।
प्राप्तं प्रान्तमशेष दोष शमनीं कृत्वा च सल्लेखनाम्॥ ९५॥

संसार समुद्र को पार करने के लिए नौका स्वरूप घोर-कठोर नाना प्रकार तपश्चरण करते हुए विहार किया। सम्यक् सिद्धि का निमित्त भूत उत्तम संयम की साधना करते हुए अन्य उग्र तपस्वियों के साथ श्री मुदित वे श्री मुनि परम पवित्र श्री सम्मेद शिखर पर्वत राज पर पधारे। अपने अंतिम काल में सकल सल्लेखना धारण की। अशेष दोषों-कर्मों का नाश करने वाली समाधि धारण की॥ ९५॥

तत्राराध्य चतुर्विधां स विधना सारां तदाराधनाम्।
त्यक्त्वा तीव्र तपै स्तपोभि रधिक नीत्वातनुत्वं तनुम्॥
कल्पेनल्प सुखालये सम भवत् सम्यक्त्व रत्नाञ्चितो।
देवो दिव्य विलासिनी जन मनो माणिक्य चौरोऽष्टमे॥ ९६॥

चारों आराधनाएँ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप आराधनाओं को सिद्ध किया। विधिवत् शरीर को कृश किया, कषायों का नाश किया। तीव्र तप एवं ध्यान द्वारा अनल्प काल पर्यन्त सुख स्थान में स्थित हो निज स्वभाव रत्नत्रय से अलंकृत हुआ। समस्त दिव्य विलासिनियों के मन माणिक्य को चुराने वाला अष्टम स्वर्ग को प्राप्त किया॥ ९६॥

अन्ये विशुद्ध मतयो यतयः समस्ताः।
स्वर्गं गताः परिरतैः रुचितै निजायाः॥

प्रान्ते समाधि मधिगम्य मुदाप्सरोभिः।
सङ्कल्पिता खिल सुखावह कान्त चेष्टाः॥ ९७॥

अन्य तपस्वी भी अपने-अपने तपश्चरणानुसार यथा योग्य विधिवत् समाधि कर विशुद्ध मति स्वर्गों में गये। वहाँ यथेच्छ कल्पित सुखों का अनुभव करने लगे। अप्सराओं के साथ नाना प्रकार उत्तमोत्तम भोगोपभोगों का अनुभव किया। सुभग चेष्टाओं से विविध क्रीड़ाओं का स्थान प्राप्त किया॥ ९७॥

कृत्वा सारतरं तपो बहुविधं शान्ताश्चिरं चार्यिकाः।
कल्पं तास्तम वापु रेत्य सकला यत्रो जिनादिर्गतः॥

यत्रासौ सुख सागरान्तर गतो विज्ञाय सर्वेऽपि तेऽ।
न्योन्यं तत्र जिनादि वन्दन पराः प्रीताः स्थिति तन्वते॥ ९८॥

जिनदत्त की भार्याएँ आर्यिका व्रत से अलंकृत हो घोर तपश्चरण करने लगीं। वे शान्त चित्त, विकार रहित शुद्ध सफेद एक साड़ी मात्र परिग्रह धारण कर कठोर साधना करने लगीं। अन्त में कषाय और शरीर को कृश कर उत्तम समाधि मरण कर उसी स्वर्ग को प्राप्त किया जिसमें श्री जिनदत्त मुनिराज उत्पन्न हुए थे। सभी देव अपने दिव्य अवधिज्ञान से एक-दूसरे के सम्बन्ध को ज्ञात कर परम प्रीति और संतोष को प्राप्त हुए। तदनन्तर सर्व एक साथ मिलकर जिनदर्शन वन्दन, पूजन, अर्चन आदि धर्म कार्यों को करने लगे॥ ९८॥

इस प्रकार श्रीमद् भगवद् गुणभद्राचार्य विरचित जिनदत्त चरित्र में नवमा अध्याय समाप्त हुआ।

❀ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ❀

भाद्रपद शुक्ला ५ शनिवार तारीख २६ अगस्त, १९८७ पूर्वाह्नकाल, पोन्नूरमलै—कुन्दकुन्द आश्रम में श्री १००८ श्री आदिनाथ चैत्यालयस्थ नन्दीश्वर द्वीप रचना जिनालय में लिखकर पूर्ण किया।